POOJA

पूजा

पूज्य श्रीस्वामीजी के साथ हम सब जैसे सवेरे
व शाम के वक़् पूजा करते हैं इस
पुस्तक में उसी का नमूना
दिया जाता है

रासपूर्णिमा संवत् १९९६

× साधारण पूजा के लिए। ×× कम समय की पूजा के लिए।

प्रकाशक—
पं० कैलासनाथ भुट्टू
५२/४६ लक्ष्मीकुण्ड, बनारस

प्राप्ति-स्थान

१—कैलासनाथ भुट्टू
५२/४६ लक्ष्मीकुण्ड, बनारस

२—केसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

३—डा० चुन्नीलाल सान्याल
३३ ए रसा रोड कालीघाट, कलकत्ता

 [मूल्य ॥)

केसरीदास सेठ द्वारा नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में मुद्रित ।

भूमिका

विशेष तौर पर शिक्षित सम्प्रदायों के भीतर भगवान् और साधन-भजन के विषय में जो अविश्वास नजर आता है उसके कारण हम ही हैं। हमारी बात व हमारा आचरण देखकर कोई आदमी परमात्मा में विश्वास करने में, और साधनभजन करने में लुब्ध नहीं होता। जो आनन्दमय की पूजा करते हैं उनको चाहिए सदा आनन्द में रहकर आनन्द से आनन्दमय की पूजा करना और सबको आनन्द देना। उनमें कभी कोई बुरा काम करने का न तो शक्ति रह जाती है और न प्रवृत्ति।

"मैं हूँ" इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। पहले मैं हूँ उसके बाद मेरा विचार और विचार का विषय है। मेरा अस्तित्व स्वतः सिद्ध है अर्थात् किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं रखता है। इस 'मैं' को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते साधक को नजर आती है एक शक्ति, जिसने एक बूँद ख़ून को इतने अच्छे एक पुष्ट मनुष्यशरीर में परिणत किया है, जिसने इसके भीतर इन इन्द्रियों की सृष्टि किया है, जो इसके भीतर बैठकर सारा काम कर रही है, जिसके साथ मेल रहने से मैं जिन्दा रहता हूँ, मेरी आँख देख सकती है, मेरा कान सुन सकता है, मन विचार कर सकता है; जिसके साथ मेल न रहने से मेरे नातेदार सब मेरे इस शरीर को फूँक देंगे। इस अहंतत्त्व का असल स्वरूप वाक्-मन से अतीत है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इसका नाम सच्चिदानन्द रक्खा है। यह दुनिया का अनन्त वैचित्र्य, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य तथा अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द का मूल प्रस्रवण है। वह अशेष कल्याण-गुण की खान है। उनसे या उनमें यह दुनिया सृष्ट, परिणत या विवर्तित है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, एकाधार में विधान और विधाता हैं। जीव-जगत् उनकी मूर्ति या व्यक्त अवस्था है। उनको जानने से और कुछ जानना बाक़ी नहीं रहता। वे जीव की चरमगति और उसके परमपति हैं। वह सगुण भी है निर्गुण भी है, वाक्-मन से अतीत भी है और सबकी सेवा स्वीकार करना, सबकी इच्छा पूर्ण करना और सबको आनन्द में रखना भी उसी का

काम है। जो भक्त जिस भाव और जिस रूप में उनको चाहता है वे उसी रूप में उसके पास प्रकट होकर उसी भाव में दर्शन देते हैं।

साधना है भगवत्प्राप्ति की पूर्णता प्राप्त करने का सहज सुन्दर, और स्वाभाविक उपाय। जिससे हमारे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तत्त्वों की पूर्ण परिणति प्राप्त हो सकती है उसी का नाम साधना है। शरीर होना चाहिए स्वस्थ, सबल और कार्यक्षम, मन रहेगा ज्ञान से, प्रेम से, आनन्द से भरपूर, सब जीवों को परमात्मा की मूर्ति जानकर सबके कल्याण साधन करना और आनन्द देना होगी मेरी कोशिश। यही मेरे साधन का लक्षण है। साधन परिणत हुआ है अस्वाभाविक आचार-व्यवहार में, बेकार खर्चा करने में और गुरु-पुरोहित का मतलब सिद्ध करने में। साधन के बारे में गलत खयाल दूर होने से साधनभजन का असल स्वरूप जानकर अविश्वासी नास्तिक तक भी साधन करने लगेंगे। शरीर का स्वस्थ होना, मन को आनन्द मिलना कौन नहीं चाहता। भगवत्-विधान जानकर उसके अनुसार जीवन चलाकर उन्नति और परमानन्द प्राप्त करना ही साधन-भजन का उद्देश्य है। जो उन्नति और शान्ति प्राप्त करने के लिए कोशिश करते हैं वे बिना जाने हुए परमात्मा का ही भजन करते हैं; क्योंकि कल्याण और शान्ति है परमात्मा का स्वरूप। साधन-तत्त्व जानने से वे लोग आसानी से उन्नति और शान्ति प्राप्त कर सकते थे। शास्त्र, गुरु और विवेक की सहायता से मालूम होना चाहिए कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है अर्थात् मैं क्या काम करने के लिए आया हूँ, मेरे जीवन की सार्थकता किसमें है। पंडितों ने बहुत विचार करके देखा है कि धन-दौलत, भोग-ऐश्वर्य आदि अर्थ जो सुख देते हैं वह स्थायी नहीं होता है। उससे दिल की ख़्वाहिश नहीं मिटती। ऋषियों ने साबित किया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य है पूर्ण परिणति, चरम शान्ति अर्थात् भगवत्-प्राप्ति। हमारे शरीर, मन व आत्मा के सारे कामों को पूर्णता-प्राप्ति के अनुकूल करने की कोशिश का नाम ही है साधना। साधन-प्रणाली दो प्रकार की है—एक सिद्ध-अवस्था की, दूसरी साधन-अवस्था की। भगवत्-तत्त्व नित्य सिद्ध स्वयंप्रकाश है। अज्ञान,

संस्कार, कामना, वासना, आसक्ति, मलिनता दूर होने से उसका स्वरूप नज़र आ जायेगा। सिद्ध-अवस्था में खुल जाता है सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन, ध्यान हो जाता है उनका लीला-चिन्तन, काम हो जाता है सबके भीतर से उनकी सेवा। अपने-अपने अधिकार के अनुसार भगवत्-लीला के सहायक होना हो जाता है हमारी एकमात्र साधना। "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त:" आदि श्लोकों का मतलब तब ठीक तौर पर समझ में आता है। उस वक्त परमात्मा का काम छोड़कर और कुछ काम नहीं रहता, परमात्मा से ज़्यादा अपना और कोई नज़र नहीं आता, परमात्मा का भजन और परमात्मा की सेवा हो जाती है श्रेष्ठ साधना। यह साधना की थी वैदिक ऋषि-मुनियों ने, यह साधना की थी वृन्दावन की गोपियों ने। इस सिद्ध-अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमको कोशिश करनी चाहिए। इस साधन-अवस्था में हम अपने भीतर की मलिनता, अज्ञानता आदि दूर करने के लिए कोशिश करते हैं। साधन-अवस्था की पूजा ही समाज में दिखाई देती है। पूजा के अंगविभाग में इस विषय पर विचार किया गया है। साधन-अंग का अनुष्ठान करते-करते जब हमारी नज़र खुल जायेगी तब मालूम होगा कि जीव है परमात्मा की विभूति, उनकी सन्तान-सन्तति। सन्तान को तकलीफ़ देकर हम मा-बाप को कभी सुखी नहीं कर सकते। सन्तान की सेवा ही मां-बाप की सेवा है। साधक की नज़र में संसार है परमात्मा का आनन्द-धाम, जीव है परमात्मा की मूर्ति, मा-बाप हैं अन्नपूर्णा-विश्वनाथ, पति है कृष्ण, राम या शिव; स्त्री हैं राधा, सीता या पार्वती। सबके भीतर से उनका दर्शन, ध्यान व उनकी सेवा ही है असल पूजा। तब जीवों के स्नान, आहार आदि काम के भीतर से विश्वरूप परमात्मा का स्नान, आहार आदि साधित हो जाता है। तब जीव में प्रेम हो जाता है भगवत्-प्रेम, जीव की सेवा हो जाती है भगवत्-पूजा, सर्वत्र खुल जाता है आत्मदर्शन, जीवन हो जाता है मधुमय, कार्य हो जाता है साधन-मय, निद्रा हो जाती है समाधि। अपनी उन्नति और शान्ति के लिये जितनी कोशिश की जाती है सबकी उन्नति और शान्ति के लिये उतनी

कोशिश किये बिना नहीं रहा जा सकता। अपना चित्त शुद्ध और शान्त करके अपने भीतर परमात्मा का दर्शन करना जैसा काम है, सब जीव का चित्त शुद्ध करके, सबका चित्त शुद्ध देखकर सबके भीतर से परमात्मा का दर्शन करना भी वैसा ही काम मालूम होता है क्योंकि सर्वव्यापी को सिर्फ अपने भीतर दर्शन करने से वह दर्शन पूरा नहीं कहा जा सकता। साधक 'पर' नहीं मानता है, किसी को 'पर' नहीं समझता है। सब जीव-जगत् ही है उसके अपने आत्मा की, परमात्मा की विभूति। उसमें 'आत्म' 'पर' भेद-भाव नहीं रहता। उसके अभिधान में जीव-सेवा आत्मसेवा का ही नामान्तर है। सर्वभूत में आत्मदर्शन, आत्म-उपलब्धि, आत्मसेवा ही उसकी साधना का उद्देश्य है। सत्य प्रतिष्ठा द्वारा सर्वत्र आत्मदर्शन, प्राणप्रतिष्ठा द्वारा सर्वत्र भगवत्-लीला-आस्वादन, और आनन्दप्रतिष्ठा द्वारा आनन्द-रस में समाहित रहना ही साधक का काम है। पूजा है श्रेष्ठ व्यक्ति या तत्त्व के सान्निध्य द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त करना। उपासना है उपास्य के सान्निध्य द्वारा उपास्य के गुण और भाव से परिभावित होना। जैसे आग के पास रहने से देह गरम होता है, बरफ़ के पास रहने से शरीर शीतल होता है वैसे ही आदर्श मनुष्यों के पास रहने से, उनके ध्यान में समाहित होने से उनके मुआफ़िक आदर्श जीवन प्राप्त हो जाता है।

हमारे शास्त्र में अन्यथाख्याति (अपने को दूसरा समझना, झूठ समझना) को छोड़कर अपने स्वरूप में अवस्थित रहना ही मुक्ति है।

''मुक्तिर्हित्वान्यथाख्यातिः स्वरूपेणावस्थितिः'' हार है मेरे गले में। मैं उस तरफ़ नज़र न देकर बाहर हार को ढूँढ़ रहा हूँ। कस्तूरी है मृग के नाभि-देश में, लेकिन कस्तूरी की गन्ध से लुब्ध होकर हिरन पागल के समान कस्तूरी ढूँढ़ता फिरता है। ऐसे ही परमात्मा हमारे भीतर रहकर सब काम कर रहा है। मैं भीतर की तरफ़ नज़र न देकर बाहर उनको ढूँढ़ता फिरता हूँ। इसलिए हमारे भीतर छिपे हुए तत्त्व को बाहर की मूर्ति में आरोप करके, सद्गुरु या इष्टमूर्ति के भीतर कल्पना करके, शास्त्रोक्त विधान के अनुसार उनकी उपलब्धि करके, ध्यान-धारणा और समाधि द्वारा उनमें तन्मयता प्राप्त करके

हम अपने भीतर छिपे हुए परमात्मा का दर्शन प्राप्त करते हैं। जिस सत्य चीज़ को असत्य खयाल किया था उसमें सत्य आरोप करके उसमें सत्य दर्शन करना ही साधन-भजन का उद्देश्य है। इसलिए कहा जाता है कि विस्मृत स्वरूप-तत्त्व की फिर उपलब्धि ही साधना है। असाधक-अवस्था में जिनके अस्तित्व में सन्देह था, सद्गुरु का आदर्श जीवन सामने रखकर उनमें विश्वास आ गया। उनकी क्रिया से आहिस्ता-आहिस्ता चित्त उनके भाव से परिभावित होने लगा। आखिर में उनके वर्णित परमात्मविषय में समाहित होने से मेरा जीवन भी इष्टमय हो गया। तब समझ में आया कि शास्त्र में क्यों कहा गया है "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।"

वैदिक युग में चेले को गुरु के पास जाना पड़ता था और वहाँ पर गुरु के हुकुम के मुआफ़िक चलना पड़ता था। इससे चेले के भीतर का सब उच्छृंखल भाव, बुरी आदतें दूर होकर सच्चा स्वाधीन भाव आ जाता था। स्वाधीन का अर्थ है 'स्व' के, आत्मा के, परमात्मा के, भगवत्-विधान के अधीन होना। गुरु के आश्रम में शिष्य संयत-शुद्ध और शान्त होकर अपने जीवन का अर्थ निर्णय कर लेते थे। गुरु का आदर्श जीवन देखकर आदर्श जीवन प्राप्त कर लेते थे। अपने इष्ट-तत्त्व में समाहित होकर उनमें तन्मयता प्राप्त करते थे। अपने भीतर बीजाकार में निहित शक्ति को पूर्ण परिणत करने का सुयोग प्राप्त करते थे। गुरु से स्वधर्म तत्त्व (वर्णधर्म, आश्रमधर्म) जानकर उसका पालन करने के वास्ते व्रती अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ होते थे। इस दृढ़प्रतिज्ञ होने का नाम ही था दीक्षा पाना।

तीन श्रेणी के साधक नज़र आते थे।

(१) **ज्ञानी**—जिनका लक्ष्य था ब्रह्म में तादात्म्य-प्राप्ति, साधना थी आत्म-अनात्म तत्त्व का विवेक।

(२) **योगी**—लक्ष्य ब्रह्म में युक्त रहना, साधना ब्रह्मज्योति का ध्यान या अनासक्त फलाकांक्षावर्जित होकर यज्ञ के लिये, भगवत्-प्रीति के लिये कर्म करना।

(३) **भक्त**—लक्ष्य प्रेम प्राप्त करना, अपने जीवन में वचन, कर्म और

भाव के भीतर से भगवत्-इच्छा को सफल करना; साधना भगवान् में आत्म-विवेदन, सर्वत्र भगवत्-लीला की अनुभूति, जीव-जगत् को भगवत्-विभूति जानकर जीव की सेवा से भगवत् की सेवा करना, शरीर से जीव-सेवा करना और दिल से भगवत्-लीला-आस्वादन करना।

पूजा एक क़िस्म की अपने अन्दर निगाह डालना (Auto Suggestion) है। अर्थात् अपनी अनुभूति को आदर्श चित्र में आरोप करके उसके भीतर भगवत्-भाव का ध्यान और उपलब्धि करते-करते, उस भाव से अपने चित्त को परिभावित करके, अपना स्वरूप उपलब्धि करना। परमात्मा है हमारे भीतर। मैं उनको नहीं देख सकता हूँ, उनको भूल गया हूँ। गुरु के वचन में विश्वास करके चित्त को बाहर के विषय से हटाकर अपने भीतर ले जाकर, अपने भीतर के छिपे हुए भगवत्-तत्त्व का दर्शन करना, अपने देह, मन आदि को भगवत्-भाव में परिभावित करना ही है पूजा।

[जिस तत्त्व को स्थूल इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, विचार से अनुभव नहीं किया जा सकता उसका उपलब्धि के लिये यही एकमात्र उपाय है कि जिन्होंने उस तत्त्व की उपलब्धि किया है उनके उपदेश के मुआफ़िक़ उसको उपलब्धि करने की कोशिश करना। अपरोक्षदर्शियों का अनुभूत सत्य ही है हमारा शास्त्र। विज्ञान, दर्शन आदि को उसका खण्डन न करके मण्डन करना पड़ेगा। इसलिए हम भी विज्ञान का बहुत प्रचार चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि भविष्यत् में ऐसा समय आयेगा कि जब शिक्षित सम्प्रदाय हमारी साधन-प्रणाली को विज्ञान-सम्मत और कल्याणप्रद जानकर साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की कोशिश करेगा।

भगवान् ने दुनिया की सृष्टि करके उसके भीतर प्रवेश किया है। दुनिया के सारे काम उनके सान्निध्य से, उनकी इच्छा के अनुसार, उन्हीं की शक्ति से साधित होते हैं। जीव का अहंकार जीव के और परमात्मा के बीच में खड़ा होकर परमात्मा के दर्शन में विघ्न डालता है। परमात्मा के सब काम को अपना काम प्रचार करके सब काम को विकृत कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि आनन्द-धाम मालूम होता है जेलखाना, लीला मालूम होती है

कर्मभोग, कर्म मालूम होता है बन्धन, आत्मीय हो जाते हैं अनात्मीय, जीवन हो जाता है असह्य बोझ। भगवान् और जीव के भीतर का कल्पित आवरण दूर करके, सब प्रकार भगवान् को प्रकाशित देखकर, अपने जीवन में उनकी इच्छा सफल करके, अपने देह को उनके हाथ के यन्त्ररूप में अनुभव करके, अपने जीवन में उनकी लीला-आस्वाद करना ही है पूजा का उद्देश्य। इससे दुनिया हो जाती ह आनन्द-धाम, जीव हो जाता है शिवविग्रह, काम होता है लीला-रस-आस्वादन, चित्त होता है आनन्द में समाहित, दूर हो जाता है सारा भेद-भाव, चित्त हो जाता है समाहित, अनुभव में आ जाता है 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व।

ओं तत्सत् !

सुबह और शाम के समय की पूजा

विष्णुस्मरण—

×× ॐ तत्सत् ॐ तद्विष्णोः परमं पदम्।
सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॥ १ ॥

विष्णुस्मरण—

परमात्मा सर्वव्यापक है। जो इस बात को देखता रहता है कि परमात्मा मारे भीतर रहकर किस तरह हमारी रक्षा करता है, हमको चलाता है और मारे सब कामों को जानता है उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं हो सकता। इस बोध को जाग्रत् रखने से कभी किसी बुरे काम करने का ख़याल ही हीं होता। इसलिये परमात्मा का स्मरण चित्त की शुद्धि का सहायक है। स चीज़ का एक दफ़े दर्शन किया है उसी के ध्यान का नाम स्मरण है। द्गुरु ने परमात्मा का जैसा रूप और जैसी लीला बताकर दर्शन दिया है तका अवलम्बन करके ध्यान करना ही विष्णुस्मरण है।

(१) ॐ (निर्गुण और सगुण ब्रह्म) तत् सत् (तत् अर्थात् ईश्वर जो व्यक्त अचिन्त्य गुणातीत भी है, और सत् सगुण सक्रिय साकार भी है। निया में जो कुछ देख रहे हैं, सुन रहे हैं, वह सब परमात्मा की ही विभूति ार सब परमात्मा ही है।)

तत् विष्णोः (उस विष्णु भगवान् का अनिर्दिष्ट अज्ञात सर्वव्यापक परमात्मा) परमं पदं (श्रेष्ठ स्वरूप और तत्प्राप्ति के उपाय) सूरयः (संयत तत्त्वदर्शी षि और पहुँचे हुए महात्माओं ने) दिवि (स्वर्ग में, कारण-शरीर में, कूटस्थ स्थित होकर) सदा (हर वक्त) आततं चक्षुरिव (व्यापी आँखों के ान विश्वतश्चक्षुः रूप में जैसे वह परमात्मा मेरे सब कामों को देख रहा

है, सुन रहा है, सबके चित्त का हाल जान रहा है उसी तरह पर) पश्यन्ति (देख रहे हैं, सुन रहे हैं, जान रहे हैं।) अथवा दिवि (आकाश में) चक्षुः (नेत्र) यथा (जैसे अव्याहत भाव से, अबाधित रूप में) पश्यति (देखते हैं वैसे) सूरयः (अपरोक्षदर्शी महात्मा परमात्मा को सर्वत्र देख रहे हैं।)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २ ॥

(२) तत् सर्वतः पाणिपादं (उस परमात्मा के हाथ-पाँव सर्वत्र वर्तमान हैं) सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् (उनकी आँखें, सिर और मुँह सर्वत्र हैं) लोके (दुनिया में) सर्वतः श्रुतिमत् (उनका कान सर्वत्र वर्तमान है) सर्वमावृत्य तिष्ठति (वह सर्वव्यापक है)।

अर्थात् वह परमात्मा सबके हाथ-पाँव के भीतर से काम कर रहे हैं, हमारा सब देख रहे हैं, सुन रहे हैं, और जान रहे हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ ३ ॥

(३) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (उनकी कोई भी इन्द्रिय नहीं है लेकिन वह सब इन्द्रियों का चालक व प्रकाशक है) असक्तं सर्वभृच्चैव (सबको धारण करते हुए भी असक्त हैं। कोई चीज़ उनको स्पर्श नहीं कर सकती है) निर्गुणं गुणभोक्तृ च (वह आप गुणातीत होकर भी सब गुणों को लेकर खेल रहे हैं, आनन्द कर रहे हैं)।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ४ ॥

(४) बहिरन्तश्च भूतानां (सब भूतों के भीतर भी वही है, बाहर भी वही है) अचरं चरमेव च (वह स्थिर रहकर भी सर्वत्र घूम रहे हैं) सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं

(वह सूक्ष्म तत्त्व है इसलिये उनको जानना कठिन है) दूरस्थं चान्तिके च तत् (वह दूर भी है पास भी है)।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ ५ ॥

(५) अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितं (वह विभक्त दिखाई देने पर भी असल में अविभक्त है) भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रहिष्णु प्रभविष्णु च (वह सब भूतों की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाला है)।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ ६ ॥

(६) ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः (सब तेजयुक्त पदार्थों को वही तेज देनेवाला है। उनके तेज से सब पदार्थ तेजयुक्त हैं) तमसः परमुच्यते (अज्ञान उनको स्पर्श नहीं कर सकता है) ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं (ज्ञान भी वही हैं, ज्ञेय भी वही हैं, वही सबके जानने के योग्य हैं) हृदि सर्वस्य विष्ठितं (वह सबके हृदय में अधिष्ठित हैं)।

(सुबहके लिये ७, ८, ९ और १० श्लोक)

× प्रभाते यः स्मरेन्नित्यं दुर्गा दुर्गाक्षरद्वयम्।
आपदस्तस्य नश्यन्ति तमः सूर्योदये यथा ॥ ७ ॥

(७) प्रभाते (सबेरे के वक़्त--बिस्तर से उठकर) यः (जो आदमी) नित्यं (रोज, हमेशा) दुर्गादुर्गाक्षरद्वयं (परमात्मा के दुर्गानामरूप दोनों अक्षरों का) स्मरेत् (स्मरण करता है कि मैं परमात्मा की गोद ही में बैठा हूँ, वह मेरी रक्षा कर रहे हैं) तस्य (उसकी) आपदः (सारी आपत्तियाँ) नश्यन्ति (नाश हो जाती हैं) यथा सूर्योदये (जैसे सूरज भगवान् के उदित होने पर) तमः (सारा अन्धकार दूर हो जाता है)।

अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमात्मा मेरी माता हैं। मैं उनकी ही गोद में बैठा हूँ। यह विश्वास भीतर से ऐसी शक्ति पैदा करता है कि मेरे पास कोई भी आपत्ति नहीं आ सकती है।

प्रार्थना—सबेरे

तुम्हारे हुकुम से जीवसेवारूप तुम्हारे काम के लिए मैं जा रहा हूँ। मुझे देखना, मुझे चलाना और मेरी रक्षा करना।

××हे विश्वनाथ ! करुणामय रात्रिकाले
स्थित्वा त्वया सह सुखं विगतश्रमोऽहम्।
ग्लानिश्च देहमनसोऽपि विनिर्गता मे
प्रातः प्रयामि बहिरीश तवैव गेहे॥ ८॥

(८) हे विश्वनाथ (सारे जीवों के रक्षक!) हे करुणामय (कल्याण करनेवाले परमात्मा!) रात्रिकाले (रात के समय) त्वया सह सुखं (सुखसे आपके साथ) स्थित्वा (रहने के कारण से) विगतश्रमोऽहं (मेरी काम की सारी क्लान्ति दूर हो गई है) मे (मेरे) देहमनसो (शरीर और मन की) ग्लानिश्च (क्लान्ति भी) विनिर्गता (जाती रही है) (अब) प्रातः (सुबह के वक़्त) हे ईश (हे परमात्मा!) तवैव गेहे (आपके संसार में) बहिः (जैसे बाहर की तरफ़) प्रयामि (जा रहा हूँ)।

अर्थात् रात के समय अपने पास सुख से रखकर मेरी सारी तकलीफ़ों और क्लान्तियों को आपने दूर कर दिया। अब सुबह के समय मैं आपके ही आदेश से, आपके संसार में, आपके ही काम के लिए जा रहा हूँ।

लोकेश चैतन्यमयाधिदेव
श्रीकान्त विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये॥ ९॥

(९) लोकेश (हे सारे जीव-जगत् के चालन करनेवाले, रक्षा करनेवाले परमात्मा) चैतन्यमय (ज्ञान व शक्ति देनेवाले चैतन्यस्वरूप !) हे आदिदेव (सब देवताओं से श्रेष्ठ महादेव !) श्रीकान्त (हे लक्ष्मीकान्त, भीतर-बाहर के सारे सौन्दर्य-माधुर्य, धन-दौलत देनेवाले परमात्मा !) विष्णो (हे सर्वव्यापी घट-घट के जाननेवाले परमात्मा !) भवदाज्ञयैव (आपके ही हुकुम से) प्रातः समुत्थाय (सुबह बिस्तर से उठकर) तव प्रियार्थं (तुम्हारे प्रिय काम करने के लिये) संसारयात्रां (संसारधर्म को) अनुवर्तयिष्ये (पालन करने के लिये जा रहा हूँ) ।

×× सेवाव्रतं जनहितं चरितुं च तत्र
शक्नोमि येन भगवंस्तव किङ्करोऽहम् ।
मां पश्य चालय विभो ! सततं च रक्ष
पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा ॥ १० ॥

(१०) भगवन् (हे परमात्मा !) अहं (मैं) तव (आपका) किंकरः (हुकुम माननेवाला भृत्य हूँ) जनहितं (जीवों का कल्याण करनेवाला) सेवाव्रतं (सेवारूप व्रत का) चरितुँ च (पालन करने में) तत्र (आपके संसार में) शक्नोमि (ऐसा कीजिये कि समर्थ होऊँ) मां पश्य (मुझे देखते रहिये) चालय (मुझे चालित कीजिये अर्थात् काम में लगाइये) सततं च रक्ष (सर्वदा रक्षा करते रहिये) विभो (हे मेरे मालिक !) मयि (मुझमें) ते (आपकी) शुभेच्छा (जीवहितसाधनरूप प्रवृत्ति) अनुदिनं (रोज़) पूर्णा भवतु (पूर्ण होवे) ।

अर्थात् हे परमात्मा ! मैं तुम्हारे हुकुम से, तुम्हारे संसार में, तुम्हारे जीवों की सेवा करने के लिये जा रहा हूँ, तुम मुझे देखते रहना, ठीक रास्ते पर चलाते रहना, कुपथ से रक्षा करना । मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे ।

× जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ ११ ॥

(११) (मैं) धर्म (धर्म को) जानामि (जानता हूँ) न च मे प्रवृत्तिः (लेकिन उसके पालन की प्रवृत्ति मुझमें नहीं है) अधर्म (पाप को) जानामि (जानता हूँ) न च मे निवृत्तिः (तब भी उससे निवृत्त होने की इच्छा मुझमें नहीं है) हे हृषीकेश (चित मन बुद्धि इन्द्रिय आदि के नियामक, चालक, परमात्मा !) हृदि स्थितेन त्वया (हृदय में बैठे हुए तुमसे) यथा नियुक्तः अस्मि (मैं जैसे जिस काम में आदिष्ट हुआ हूँ) तथा करोमि (मैं उसी प्रकार का काम करना चाहता हूँ) ।

अर्थात् मैं यन्त्र हूँ तुम हो यन्त्री । मुझे चलानेवाले मेरे भीतर बैठकर मुझे अपने काम में अपनी इच्छानुसार लगा रखना । मुझे बुरे काम से बचाकर अच्छे काम में प्रवृत्त करो ।

(शाम के लिए १२, १३ श्लोक)—

×× आज्ञापितस्य च पुरा जनसेवनाय
जातं प्रभो भववने भ्रमतः प्रमादात् ।
देहे मनस्यपि च मे मलिनत्वमीश
येनावसीदति महेश ममान्तरात्मा ॥ १२ ॥

शाम—

संसार में जो कुछ मैल सारे दिन भर में लग गया उस सब मैल को धोकर मुझे शुद्ध करके अपने पास बुला लो ।

(१२) हे प्रभो (अनुग्रह व निग्रह करने के योग्य !) हे ईश्वर (हे मेरे चालक—हे शक्तिमान् परमात्मा !) पुरा (पहिले) भववने (संसाररूपी वन में) जनसेवनाय (जीवसेवा के लिये) आज्ञापितस्य (नियुक्त किये हुए)

मे (मुझमें) भ्रमतः प्रमादात् (भ्रम और प्रमाद के कारण) देहे मनसि च (शरीर और मन में) मलिनत्वं जातं (मलिनता उत्पन्न हो गई है) येन (जिसकी वजह से) मम अन्तरात्मा अवसीदति (मेरा अन्तरात्मा सुस्त हो गया है) मेरे भीतर से परमात्मा अच्छी तरह प्रकट नहीं हो सकता है)।

अर्थात् हे परमात्मा ! आपके ही आदेश से संसार में आप ही के जीवों की सेवा के लिये गया था। भ्रम, प्रमाद के कारण और मन की मलिनता से मेरे अन्तरात्मा में थकावट आ गई।

×× सन्ध्या समागममहो मम जीवितस्य
ज्ञात्वा च मे जिगमिषां तव सन्निधाने।
प्रक्षाल्य धूलिमलिनं तनयं स्वकीयं
क्रोडे नयाशु जगदीश कृपानिधान ॥ १३ ॥

(१३) अहो (हाय) सन्ध्यासमागमं (शाम का समय आ गया है) मम जीवितस्य (मेरे हृदय के) तव सन्निधाने जिगमिषां (आपके पास जाने की इच्छा को) ज्ञात्वा (जानकर) हे कृपानिधान (कृपामय परमात्मा !) धूलिमलिनं (धूलि आदि मलिनता को) प्रक्षाल्य (धोकर) स्वकीयं तनयं (अपनी सन्तान को) आशु (शीघ्र) क्रोडे (गोद में) नय (ले लो)।

अर्थात् हे कृपानिधान! आपके आदेश का लंघन करके मैंने अपने देह और मन को मलिन कर दिया, अब तो शाम का समय आ गया, तुम अपने लड़के की धूलि को झाड़कर अपनी गोद में ले लो, मेरा तो तुम्हारे सिवा और कोई भी नहीं है।

आसनशुद्धि--

समं कायशिरोग्रीवं कृत्वा शुद्धासने स्थितः।
नारायणं नमस्कृत्य चिन्तयामि सदा हरिम् ॥ १४ ॥

आसनशुद्धि--

शुद्ध बड़े आसन पर सीधा होकर बैठना और चित्त स्थिर होने की प्रार्थना

करना। शुद्धितत्त्व तीन प्रकार का है (१) जलशुद्धि (२) आसनशुद्धि (३) भूतशुद्धि।

(१) जलशुद्धि के बारे में "स्नान के वक्त पूजा" में देखना चाहिए। जल द्वारा देह को, विष्णुस्मरण और साधनश्लोकपाठ द्वारा मन को शुद्ध करना चाहिए। जलशुद्धि का अर्थ है कि पहले जल को शुद्ध करे, उसके बाद उस जल से देह को शुद्ध करे।

(२) आसनशुद्धि—पूजा के वक्त शरीर के भीतर विद्युत् का खेल चलता है। इसलिए शरीर का मिट्टी के साथ उस वक्त संयोग नहीं रखना चाहिए, और ऐसे आसन पर बैठना चाहिए कि जिसके भीतर से विद्युत् निकल न जा सके। इसलिए 'चैलाजिनकुशोत्तरं' कम्बल का आसन बताया गया है।

पूजा के वक्त रीढ़ की हड्डी सीधी रहने से विद्युत् का खेल अच्छी तरह चल सकता है। परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि जब तक पूजा खतम न होवे तब तक चित्त में किसी प्रकार की चञ्चलता या विक्षेप न आवे।

आसनशुद्धि के भीतर (१) शुद्ध आसन पर बैठना (२) मिट्टी के साथ मेल न रखना (३) सीधे होकर बैठना (४) सिद्धि प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होना, इन चार विषयों पर ज़्यादा नज़र रखना चाहिए।

(१४) कायशिरोग्रीवं (शरीर, सिर और गरदन को) समं कृत्वा (सीधा करके) शुद्धासने (ऐसे आसन पर कि जिसके भीतर से बिजली शरीर से निकलकर ज़मीन में न जा सके) स्थितः (बैठकर) नारायणं नमस्कृत्य (नारायण को नमस्कार करके) सदा हरिं चिन्तयामि (सदा हरि की चिन्ता करता हूँ)।

अर्थात् आसनशुद्धि में तीन विषय पर ज़्यादा ख़याल रखना चाहिए (१) आसन शुद्ध होना चाहिए और इतना बड़ा होना चाहिए कि मिट्टी के साथ शरीर का योग न रहे (२) सीधा होकर बैठना चाहिए जिससे बिजली का काम ठीक तरह से चले (३) सिद्धि प्राप्त करने के वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिए और परमात्मा से प्रार्थना भी करनी चाहिए।

कृतज्ञताप्रकाश—

×× ॐ गुरुभ्यो नमः, ॐ बान्धवेभ्यो नमः,
ॐ जीवेभ्यो नमः, ॐ देवेभ्यो नमः,
ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः ॥ १५ ॥

कृतज्ञताप्रकाश—

मैं सबके पास ऋणी हूँ अथवा कृतज्ञ हूँ। भक्ति के साथ उस ऋण का स्मरण करके सबसे क्षमा-प्रार्थना करना और सबके सामने नत होना चाहिए नमकहरामी सबसे बड़ा पाप है। सब काम में परमात्मा से, अपने नातेदारों से और सब जीवों से मदद मिलती है। हमको चाहिए कि उन सबको धन्यवाद दें। शास्त्र में भी देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण, जीवऋण आदि ऋणों से मुक्त होने का विधान है। सब ऋणों से मुक्त होकर परमात्मा के पास जाना चाहिए। इसीलिए पंच महायज्ञ किया जाता है। सबके पास कृतज्ञताप्रकाश करना, सबकी राय लेना, सबसे आशीर्वाद की प्रार्थना करना चित्त की शुद्धि में सहायक होता है। इससे साधन का प्रधान विक्षेप जो अहंकार है वह भी दूर हो जाता है।

(१५) ॐ गुरुभ्यो (जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्षभाव में ज्ञान मिला—उन सबोंको) नमः (नमस्कार करता हूँ) ॐ बान्धवेभ्यो नमः (माता-पिता आदि सब बान्धवों को नमस्कार) ॐ जीवेभ्यो नमः (सब जीवों को नमस्कार) ॐ देवेभ्यो नमः (सब देवताओं को नमस्कार) ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः (विश्वरूप परमात्मा को नमस्कार)।

अर्थात् नमकहरामी यानी अकृतज्ञता सबसे बड़ा पाप है। सब काम में मुझे गुरुओं से, सब नातेदारों से, जीवों से, देवताओं से, परमात्मा से मदद मिली है। मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ। वह सब मुझे सब ऋणों से मुक्त करके परमात्मा के पास जाने की आज्ञा दे देवें।

साधन श्लोक—

× निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥१६॥

साधनश्लोक—

चित्त की शुद्धि के लियें और मलिनता दूर करने के लिये श्लोकपाठ करना चाहिए । शास्त्र, गुरु और विवेक के अनुसार अपना स्वधर्म निर्णय करके अपने सद्गुरु के हुकुम से अपने चित्त को अज्ञानता, कामना, वासना, आसक्ति, अहंता, ममता आदि मलिनता से शुद्ध करना चाहिए ।

(१६) निर्मानमोहा (जिनका अभिमान और मोह दूर हो गया है) जितसंगदोषा: (जो आसक्ति से रहित हैं) अध्यात्मनित्या: (सदैव आत्मज्ञान में जिनकी स्थिति है) विनिवृत्तकामा: (जिनकी सब कामना, वासना आदि निवृत्त हो गई हैं) सुखदु:खसंगै: द्वन्द्वै: विमुक्ता: (सुख-दु:खात्मक द्वन्द्व से जो रहित हैं ऐसे) अमूढा: (मोह से रहित पुरुष) तदव्ययं पदं (उस मोक्षपद को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं) ।

× विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ १७ ॥

(१७) य: पुमान् (जो पुरुष) सर्वान् कामान् विहाय (सब प्रकार की कामनाओं और वासनाओं को त्यागकर) निस्पृह: (इच्छारहित होकर) निर्मम: (ममतारहित होकर) निरहंकार: (अभिमानरहित होकर) चरति (विचरता है) स: (वह) शान्ति अधिगच्छति (वह पुरुष शान्ति को प्राप्त हो जाता है) ।

उद्बोधन--

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति १८

उद्बोधन—

चित्त शुद्ध होने से अपने भीतर के तरफ़ नज़र पड़ती है। तब मालूम होता है कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा मेरे भीतर ही है और मैं अमृतस्वरूप की सन्तान हूँ। परमात्मा की शक्ति मुझको मदद देने को हमेशा तैयार है। उनकी तरफ़ नज़र रखकर चित्त की सब दुर्बलता दूर करनी चाहिए। उनकी शक्ति से अपने आपको शक्तिमान् ख़याल करना चाहिए। तब अपने भीतर की छिपी हुई शक्ति (कुलकुण्डलिनी) को जाग्रत करना चाहिए।

(१८) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (उठो, जागो, श्रेष्ठ को प्राप्त होकर सब जान लो) क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति (परमात्मा को प्राप्त करने का रास्ता चाकू की धार से भी तेज़ और पतला है) अर्थात् परमात्मा को जानना कठिन है। कोशिश करते रहो।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येवं मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥ १६ ॥

(१६) उत्थातव्यं (उठो) जागृतव्यं (जागो) भविष्यतीत्येवं मनः कृत्वा (मन में यह निश्चय करके कि ज़रूर सफल होंगे) सततं (सर्वदा) अव्यथैः (आलस्य छोड़कर) भूतिकर्म्मसु (कर्तव्यसाधन में) योक्तव्यं (लगे रहो)।

भूतशुद्धि--

मूलाधारे प्रसुप्तां स्वां कुण्डलीं शक्तिरूपिणीम्।
सहस्रारे समुत्थाप्य देहं स्मरामि भास्वरम् ॥ २० ॥

भूतशुद्धि—

पंचभूत व उनके सात्त्विक अंश से उत्पन्न मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, राजसिक अंश से उत्पन्न पंचप्राण, तामसिक अंश से उत्पन्न स्थूल देह, इन सबसे अपने को अलग नित्य, शुद्ध, बुद्धरूप में चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद ब्रह्मज्योति की सहायता से त्रिविध देह को शुद्ध और परमात्मा का काम करने के योग्य करना चाहिए। मूलाधार से चित्त को सहस्रार में ले जाकर अपने शरीर को ज्योतिर्मय चिन्तन करना चाहिए। मूलाधार में सोई हुई आत्मा की शक्तिरूपी कुलकुण्डलिनी देवी को जाग्रत् करके नेति-नेति, अर्थात् मैं यह नहीं हूँ, पंचकोशविवेक अर्थात् मैं पंचकोश से अतीत हूँ व प्राणायाम आदि साधन के द्वारा सहस्रार में ले जाकर अपने को ज्योतिर्मय चिन्तन करना चाहिए। उसके बाद इति-इति भाव के साधन से वह ज्योति सब तत्त्वों में ले जाकर सब तत्त्वों को ज्योतिर्मयरूप से चिन्तन करने का नाम ही है भूतशुद्धि। भूत का अर्थ है दिति अर्थात् अप आदि पंचभूत और उनसे बना हुआ देहादि। अपने को भूत से मुक्त करके आत्मभाव में स्थित होकर, फिर सब भूतों को ब्रह्मज्योति से शुद्ध करने का नाम है भूतशुद्धि।

(२०) मूलाधारे प्रसुप्तां स्वां (अपने मूलाधारचक्र में सोती हुई) शक्तिरूपिणीं कुलकुण्डलिनीं (कुलकुण्डलिनी शक्ति को) सहस्रारे समुत्थाय (अपने सहस्रारचक्र में उठाकर) देहं भास्वं स्मरामि (अपने शरीर को ज्योतिर्मय ध्यान करता हूँ)।

× ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ आपो ज्योतिरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ॥ २१ ॥

गायत्री के भीतर जो ॐकार है वह परमात्मा के सगुण और निर्गुणरूप भाव का प्रकाशक है। अर्द्धमात्रा निर्गुण तत्त्व की प्रकाशक है। अकार, उकार, मकार सगुणशक्तितत्त्व के प्रकाशक हैं। ॐकार शिवशक्ति, राधाकृष्ण की युगल मूर्ति है। अ उ म, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि

विश्वरूप के प्रकाशक हैं। परमात्मा देहाबद्ध जीव को अपने धाम में यानी सहस्रार में बुला रहे हैं। मूलाधार से मणिपुर तक भूः का, मणिपुर से अनाहत तक भुवः का, अनाहत से आज्ञाचक्र तक स्वः का स्थान है। इन सबके ऊपर सहस्रार में भगवद्धाम है। भूर्भुवः स्वः उच्चारण करके साधक मूलाधार से सहस्रार में चित्त को ले जाकर परमात्मा की जो वरेण्य (श्रेष्ठ) भर्गः (ज्योति) है उसमें मग्न होकर परमात्मा में तन्मयता प्राप्त करता है। उसके बाद धियो यो नः प्रचोदयात् उच्चारण करके चित्त को नीचे की तरफ़ मूलाधार तक ले जाते वक्त अपनी देह के सब तत्त्व (चित्त, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को) परमात्मा की ज्योति से भरपूर देखकर समझ लेता है कि परमात्मा कैसे इन सब तत्त्वों को अपने अपने काम में लगाता है।

(२१) ॐ भूर्भुवः स्वः (निर्गुण-सगुण ब्रह्म भूलोक, भुवर्लोक और स्वःलोक में व्याप्त होकर जो वर्तमान हैं) तत्सवितुः (भूर्भुवः स्वः आदि लोकों का प्रकाश करनेवाले का) देवस्य (सूर्य देवता की ब्रह्मज्योति का) वरेण्यं (श्रेष्ठ) तद् भर्गः (उस परम ज्योति का) धीमहि (हम ध्यान करते हैं) यः (जो) नः (हम लोगों की) धियः (बुद्धि को) प्रचोदयात् (श्रेष्ठ कर्म में नियुक्त करे) (वह भर्ग) आपः (सर्वव्यापी) ज्योतिः (स्वप्रकाश) रसामृतं (रस और अमृतस्वरूप) भूर्भुवः स्वः (भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर में व्याप्त होकर) ब्रह्म (सर्वव्यापी रूप से) ॐ (ॐकाररूप से विराजमान है)।

अर्थात् साधक अपने भीतर से सहस्रार में परमात्मा के पास जाकर उनकी ज्योति में मग्न हो जावे और वह ज्योति किस तरह इन्द्रियों के भीतर जाकर परमात्मा की इच्छा पूर्ण कर रही है, इस बात को देखता रहे। उसके बाद वह ज्योति कैसे सब घट-घट में विराजमान होकर लीला कर रही है इसको अनुभव करे।

ध्यान—धामतत्त्व—

×× द्वन्द्वातीतं त्रिगुणरहितं स्वप्रकाशस्वरूपं
शान्ताकारं गगनसदृशं निर्विकारं वरेण्यम्।

भक्तैर्जुष्टं विमलनिलयं योगिभिर्ध्यानगम्यं
नित्यानन्दं परमसुखदं चेतसा तं स्मरामि॥ २२ ॥

ध्या—

ध्यान के भीतर तीन भाग हैं (१) धामतत्त्व, (२) स्वरूपतत्त्व, (३) भगवत्तत्त्व। जहाँ परमात्मा का प्रकाश ज़्यादा है वहाँ पर चित्त न ले जाने से भगवत्स्वरूप मालूम करना कठिन है। अग्नि सर्वत्र होने पर भी आग के भीतर से ज़्यादा प्रकट मालूम होती है। वैसे ही भगवान् सर्वव्यापी होने पर भी भक्त के हृदय में, कूटस्थ में ज़्यादा प्रकट मालूम होते हैं। चित्त को कूटस्थ में ले जाकर ख़याल करना चाहिए कि किसी आनन्दघनज्योति के भीतर हम पहुँच गये हैं। यहाँ पहुँचे हुए सब महात्मा परमात्मा के ध्यान में समाहित हैं।

धामतत्त्व—

अपने को ज्योतिर्मय चैतन्यस्वरूप परमात्मा के आनन्दधाम में परमात्मा के पास बैठे हुए चिन्तन करना चाहिए।

(२२) द्वन्द्वातीतं (सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व से परे) त्रिगुणरहितं (सत्त्व, रज, तम गुणों से अस्पृश्य) स्वप्रकाशस्वरूपं (अपने प्रकाश से प्रकाशित) शान्ताकारं (चंचलता से बिलकुल रहित) गगनसदृशं (आकाश की तरह व्याप्त) निर्विकारं (विकार से रहित) वरेण्यं (श्रेष्ठ) भक्तैर्जुष्टं (सिद्ध भक्तों से सेवित) विमलनिलयं (विमल जो स्थान है) योगिभिर्ध्यानगम्यं (जो योगी महात्माओं के ध्यानगम्य है) नित्यानन्दं (आनन्दस्वरूप) परमसुखदं (अत्यन्त आनन्द देनेवाले) तं (उस भगवत्-धाम को) चेतसा (हृदय से) स्मरामि (मैं ध्यान करता हूँ)।

अर्थात् चित्त को मस्तिष्क में ले जाकर परमात्मा के धाम की चिन्ता करना। ऐसे धाम की चिन्ता करना जो कि ज्योति और आनन्द से पूर्ण है और जहाँ सिद्ध पुरुष परमात्मा का ध्यान कर रहे हैं।

स्वरूपतत्त्व—

× नाहं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी संगवर्जितः।
निष्क्रियो निःस्पृहः शान्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ॥२३॥

स्वरूपतत्त्व—

जो अपने आपको नहीं जानता वह परमात्मा को नहीं जान सकता। इसलिये पहले अपने सिर पर फूल चढ़ाकर फिर ठाकुरजी के सिर पर फूल चढ़ावे। मेरे भीतर कौन-कौन तत्त्व मौजूद हैं, उसके भीतर मैं कौन तत्त्व हूँ, मैं कैसे देह से अलग हूँ इसको जानना चाहिए। यह भी जानना चाहिए कि मैं आत्म-स्वरूप हूँ, परमात्मा का अंश हूँ। इसी तरह पर अपना स्वरूप चिन्तन करना चाहिए। परमात्मा शान्त-स्वरूप है इसलिये मुझे भी इन्द्रियों को वश में करके शान्त होना चाहिए। परमात्मा सबका कल्याण करनेवाला है। इसलिए मुझे भी सब जीवों का हित करना चाहिए। परमात्मा अद्वैत है, इसलिए मुझे भी सबको अपने ही बराबर देखना चाहिए। सब जीवों को अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। परमात्मा आनन्दस्वरूप है इसलिए मुझे हरवक्त आनन्द में रहकर सबको आनन्द पहुँचाते रहना चाहिए। मुझको चाहिए कि मैं सबके पास आनन्द और अमृत रूप हो जाऊँ। अर्थात् अपने को देहातीत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप में चिन्ता करना चाहिए।

(२३) अहं (मैं) विप्रादिकः वर्णः न (ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं हूँ) न आश्रमी (ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रमवासी भी नहीं हूँ) संगवर्जितः (आसक्ति से रहित) निष्क्रियः (कर्तृत्वाभिमान से रहित) निस्पृहः (इच्छारहित) शान्तः (शान्तिपूर्ण) सर्वोपाधिविवर्जितः (सब उपाधि से रहित चित् स्वरूप हूँ)।

नाहं देहो न मे देहो निष्कलो गगनोपमः।
निराकारो निराधारः शुद्धविज्ञानविग्रहः ॥२४॥

(२४) अहं देहः न (मैं शरीर नहीं हूँ) देहः मे न (शरीर मेरा नहीं है)

(मैं) निष्कलः (भेदरहित पूर्ण-स्वरूप हूँ) गगनोपमः (आकाश सदृश व्यापी) निराकारः निराधारः शुद्धविज्ञानविग्रहः (ज्ञानस्वरूप हूँ) ।

अर्थात् अपने को देहातीत, गुणातीत, नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप में ध्यान करना चाहिए ।

×× अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवास्मि न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥२५॥

(२५) अहं देवः (मैं देवतास्वरूप हूँ) अन्यः च नास्मि (और कोई दूसरा नहीं हूँ) ब्रह्म एव स्मि (मैं निश्चित ब्रह्मस्वरूप हूँ) शोकभाक् न (सुख-दुःख का भोगनेवाला नहीं हूँ) अहं सच्चिदानन्दरूपः (मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ) नित्यमुक्तः (मैं सदैव मुक्त हूँ) स्वभाववान् (अपने भाव में मग्न होकर परमात्मा की लीला कर रहा हूँ) ।

×× सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥२६॥

(२६) भेदापगमे सत्यपि (परमात्मा के और मेरे स्वरूप में वास्तव में कोई भेद न रहने पर भी, मैं कहूँगा) नाथ (हे नाथ !) अहं तव (मैं तुम्हाराही हूँ) त्वं मामकीनः न (तुम मेरे नहीं हो) तरंगः (लहर) सामुद्रः हि (समुद्र की ही है) क्वचन (कभी भी) समुद्रः न तारंगः (समुद्र तरंग का नहीं है) ।

अर्थात् हे परमात्मा, असल तत्त्व में तुममें और मुझमें भेद न होने पर भी मैं यही कहता रहूँगा कि मैं दास हूँ तुम प्रभु हो। जैसे तरंग समुद्र की है न कि समुद्र तरंग का ।

भगवत्तत्त्व—

१ गुरुतत्त्व—

× इष्टदेवस्वरूपो यः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
शुद्धो बुद्धः प्रमुक्तश्च गुरुरादर्शमानवः ॥२७॥

भगवत्तत्त्व

गुरु-इष्ट भगवत्-तत्त्व की चिन्ता करनी चाहिए।

गुरुतत्त्व

आदर्श पुरुष जिनकी बात, भाव और काम के भीतर से मेरा इष्टतत्त्व प्रकट हो जाता है वही मेरे गुरु हैं। मैं परमात्मा को नहीं देख सकता हूँ। जिन्होंने उसको देखा है, जो परमात्मा के भाव में मग्न रहते हैं, जिनका आदर्श जीवन लोभनीय है, जिनकी मदद से परमात्मा से मिलना सहज है, वही मेरे गुरु हैं। मेरे भीतर परमात्मा हैं। लेकिन मैं उनको देख नहीं सकता हूँ। उनके विषय में मेरा ज्ञान बहुत कम है। मेरे इष्टदेव भी मेरे पास नहीं हैं। उनको भी मैं पक्की तरह से नहीं जानता हूँ। उनके मिले बिना मेरा काम नहीं चलता और मेरा दुःख नहीं मिटता। इसलिए मुझे एक ऐसा आदमी चाहिए जो खुद इष्टदर्शन कर चुका हो, और मुझे भी इष्ट के दर्शन करा सकता हो, जिसका सब जीवों पर प्रेम हो, जिनके काम, भाव और वचन से परमात्मतत्त्व प्रकट होता हो, जिनको देखने से परमात्मा के ऊपर विश्वास आ जावे, जो मेरे इष्ट की जीवन्त मूर्ति है उसी को हम गुरुरूप से मानेंगे। इष्टदेव की मूर्ति, सच्चिदानन्दघनरूप, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप, आदर्श मनुष्यरूप से मेरे गुरुजी मेरे सामने वर्तमान हैं।

(२७) गुरुः आदर्शमानवः (मेरे गुरु आदर्श मनुष्य हैं) यः (जो) इष्टदेवस्त्र रूपः (मेरे इष्टदेव की प्रतिमूर्ति हैं अर्थात् जिनके काम, भाव और बातों से मेरे पास इष्टतत्त्व मूर्त यानी प्रकट रहता है) सच्चिदानन्द-विग्रहः (सच्चिदानन्द मूर्ति की तरह) शुद्धः बुद्धः प्रमुक्तश्च (जो शुद्धस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और मुक्तस्वरूप होकर मुझे भी शुद्ध, बुद्ध मुक्त कर सकते हैं)।

भगवान् जिनकी मदद से हम लोग देखते, सुनते और ज़िन्दा रहते हैं; हमारी शक्ति, सौन्दर्य, माधुर्य, ज्ञान, आनन्द आदि ज़िनका आंशिक प्रकाश है; जो सृष्टि, स्थिति, लयकर्त्ता है; जो एकाधार में विधान और विधाता है; जिनको जानने से सबका जानना, और जिनसे मिलने से सबसे मिलना हो जाता है; जिससे और जिसमें, जीव-जगत् सृष्ट, परिणत और विवर्तित होता है; जो अशेष कल्याण और गुण की खान है वही मेरा परमात्मा है।

२ इष्टतत्त्व—

देहावस्थितचैतन्यं समारोप्येष्टविग्रहे।
तस्मिंश्च भगवद्भावं चिन्तयामि प्रयत्नतः ॥२८॥

इष्टतत्त्व

अपने अभिलषित आदर्श पूर्ण परिणति की मूर्ति जिनके भीतर पूर्ण भाव में वर्तमान है वही मेरा इष्ट है । He is the fullest manifestation of the seed in me अर्थात् अपने भीतर जो बीज है उसकी पूर्णताप्राप्त विकसित अवस्था ही वह है। परमात्मा मेरे कल्याण के लिए इष्टरूप से आये हैं। उनमें आदर्श मनुष्य और पूर्ण ब्रह्म का भाव वर्तमान है। उनके आदर्श मनुष्य भाव का अवलम्बन करके अपने भीतर के गुप्त परमात्मभाव को जाग्रत् करके मैं भी उनकी तरह आदर्श मनुष्य बनने की कोशिश करूँगा। इष्ट दो प्रकार का है।

(१) तात्त्विक और (२) ऐतिहासिक। सबको अपने-अपने इष्ट का ध्यान करना चाहिए। यहाँ पर कृष्णजी की पूजा की तरफ़ ज़्यादा ध्यान रखा गया है। इष्ट के विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। गुरुजी की कृपा से कुछ थोड़ा बहुत संस्कार मिला। इस संस्कार के मुआफ़िक ध्यान करते-करते इष्टतत्त्व मेरे पास प्रकट होने लगा। इष्ट असल में परमात्मा ही है। वह हमारे सीमाबद्ध भाव के पास परमात्मा का ही प्रकाश है। इष्ट पास नहीं है, इसलिए उनकी मूर्ति से यानी गुरुजी से उनके बारे में जो कुछ सुना है, उसी तरह से ध्यान करते-करते वह इष्टमूर्ति हमारे पास उज्ज्वलरूप से प्रकट होने लगेगी। मेरे भीतरवाले परमात्मा के विषय में जो ज्ञान है वह सब इष्टतत्त्व में आरोप करके परमात्मा के सब लक्षणों का इष्टमूर्ति में ध्यान करते-करते जब वह इष्टमूर्ति साक्षात् परमात्मा विश्वव्यापारूप से नज़र आ जावे, तब वह मूर्ति कागज़ की तस्वीर या पत्थर की मूर्ति नहीं रहेगी। मेरे भीतर अन्तर्यामिरूपी में जो परमात्मा स्थित है उसको इष्टमूर्ति में आरोप करके उस इष्टमूर्ति के भीतर से परमात्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए।

(२८) देहावस्थितचैतन्यं (अपने शरीर के भीतर अन्तर्यामीरूप में अवस्थित चैतन्य को) इष्टविग्रहे समारोप्य (इष्टमूर्ति के भीतर आरोप करके) तस्मिन् च (उसी में) प्रयत्नतः (कोशिश के साथ) भगवद्भावं चिन्तयामि (भगवद्भाव का ध्यान करता हूँ) ।

एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिस्त्वं
हे भक्तवत्सल गृहाण निमन्त्रणं मे ।
प्रेमाश्रुपाद्यपरिधौतपदाम्बुजे ते
आत्मानमेव कुसुमाञ्जलिमुत्सृजामि ॥ २६ ॥

(२६) एहि (आ जाओ) कृष्ण (हे किशनजी महाराज) सकृदेव (एक दफ़े) एहि (आ जाओ) त्वं (तुम) अतिथि भव (मेरे सामने मेरे हृदय में अतिथिरूप में प्रकट हो जाओ) हे भक्तवत्सल, मे (मेरे) निमन्त्रणं गृहाण (निमन्त्रण को ग्रहण करो) प्रेमाश्रुपाद्यपरिधौतपदाम्बुजे ते (प्रेमरूप आँसू से धोये हुए तुम्हारे चरणकमल में) आत्मानमेव (मेरे आत्मा को ही) कुसुमाञ्जलि (पुष्पाञ्जलिरूप में) उत्सृजामि (निवेदन कर दूँगा) ।

अर्थात् हे मेरे प्रिय इष्टदेव किशनजी महाराज, एक दफ़े मेरे सामने प्रकट हो जाओ । मैं अपने इस आत्मा को तुम्हारे चरणकमल में निवेदन करके जीवन सार्थक कर लूँगा ।

××एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिर्मे
पादाम्बुजे तव निवेदनमेतदेव ।
प्राणेश हे हृदयकोमलपद्मतल्पे
त्वां शाययामि सुचिरं न विसर्जयामि ॥३०॥

(३०) कृष्ण एहि एहि (हे कृष्ण भगवान् मेरे पास आ जाओ आ जाओ) सकृदेव मे अतिथिर्भव (एक बार मेरे अतिथिरूप में प्रकट हो जाइए)

तव पादाम्बुजे (आपके चरणकमल में) एतदेव निवेदनं (इतनी ही मेरी प्रार्थना है) हे प्राणेश (हे मेरे हृदय के स्वामी) । हृदयकोमलपद्मतल्पे (मेरे हृदयरूप कोमल कमलरूपी बिस्तर में) त्वां शाययामि (आपको शयन करा रखूँगा) सुचिरं विसर्जयामि न (और जल्दी कभी जाने न दूँगा) ।)

× बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं
कंजाक्षं कम्बुकण्ठं स्मितसुभगमुखं स्वाधरे न्यस्तवेणुम् ।
श्यामं शान्तं त्रिभंगं रविकरवसनं भूषितं वैजयन्त्या
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतिशतवृतं ब्रह्मगोपालवेशम् ॥३१॥

(३१) (मैं) वृन्दावनस्थं (वृन्दावनधाम में अवस्थित) युवतिशतवृतं (शत युवती से—पहुँचे हुए महात्माओं से घिरे हुए) ब्रह्मगोपालवेशं (ब्रह्मगोपाल वेशधारी जो स्वरूपतः साक्षात् ब्रह्म होने पर भी जीव के लिए बालगोपालवेश बनाकर वृन्दावनधाम में प्रकट हुए हैं उनको) वन्दे (वन्दना करता हूँ) (वह कैसे हैं) बर्हापीडाभिरामं (जिनके मस्तक में मोर पंख शोभित होकर अपूर्व शोभा धारण कर रहा है) मृगमदतिलकं (जिनके ललाट में मृगमद अर्थात् कस्तूरी का तिलक विराजमान है) कुंडलाक्रान्तगण्डं (जिनके लम्बे कुण्डल गरदन तक आ पहुँचे हैं) कंजाक्षं (जिनकी आँखें कमल के समान सुन्दर हैं) कम्बु-कण्ठं (जिनका कण्ठ शंख के समान सुन्दर स्तरविशिष्ट है) स्मितसुभग-मुखं (जिनका वदन सदा हास्यमुख है और आनन्ददायक है) स्वाधरे न्यस्त-वेणुं (जिनके होंठ में वंशी सुशोभित है) श्यामं (जो श्याम वर्ण) शान्तं (स्थिर) त्रिभंगं रविकरवसनं (जिनका वस्त्र सूरज की किरणों के समान उज्ज्वल पीत वर्ण है) वैजयन्त्या भूषितं (वैजयन्ती हार से जो शोभित है)।

अर्थात् जीव सिवा नामरूप के और कुछ नहीं जानता है इसलिए जीव को आकर्षण करने के लिए परमात्मा अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य से भूषित होकर वृदावनधाम में और भक्त के हृदय में भी प्रकट होता है । इसलिए भगवद्-विमुख जीव तक भी उनके रूप से आकृष्ट और गुण से मुग्ध है ।

× अनन्तविश्वाश्रय वीर्यशालिन्
विश्वस्थसौन्दर्य्यनिदानभूत ।
माधुर्यलावण्यरसैकसिन्धो
हे सच्चिदानन्द नमो नमस्ते ॥३२॥

(३२) अनन्तविश्वाश्रय (सारी दुनिया का आश्रय) वीर्यशालिन् (अनन्त वीर्यशाली) विश्वस्थसौन्दर्यनिदानभुत (सारी दुनिया की सुन्दरता का सार) माधुर्यलावण्यरसैकसिन्धो (अनन्त माधुर्यलावण्य रस का एक मात्र सागर) हे सच्चिदानन्द (सच्चिदानन्दस्वरूप जो परमात्मा है) नमो नमस्ते (उसको नमस्कार है) ।

× सर्वज्ञाननिधिर्गुणैकनिलयो भावाश्रयः सर्वग-
स्त्वं सर्वत्र सदा समंजसतया सर्वान्तराकर्षकः ।
ध्येयः सिद्धजनैर्मदीयहृदये धृत्वेष्टदेवद्युतिं
सार्थं मे कुरुजीवनं करुणया दीनैकबन्धो विभो॥३३॥

(३३) सर्वज्ञाननिधिः (हे अनन्त ज्ञानसागर) गुणैकनिलयः (सर्व गुणनिधान) भावाश्रयः (सारे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर भावों का आश्रय) सर्वगः (सर्वव्यापी) त्वं सर्वत्र सदा समंजसतया (तुम हर वक्त हर स्थान में सारे गुणों के अपूर्व सामंजस्य से) सर्वान्तरा कर्षकः (सबके चित्त को आकर्षण करनेवाले हो) ध्येयः सिद्धजनैः (और सिद्ध महात्माओं के ध्यान का विषय हो) दीनैकबन्धो विभो (हे दीनों के बन्धु, हे विभो) करुणया (तुम कृपा करके) मदीयहृदये (मेरे हृदय में) धृत्वेष्टदेवद्युतिं (मेरे इष्ट देवता का ज्योतिर्मय रूप धारण करके प्रकट होकर) सार्थं मे कुरु जीवनं (मेरे जीवन को कृतार्थ करो) ।

अर्थात्—सगुण ब्रह्म अशेष कल्याणगुण की खान और सत्त्व चैतन्य व

आनन्द की घनाभूत मूर्ति है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र में सारे भावों की, सारे गुणों की पूर्ण परिणति और पूर्ण सामंजस्यता वर्त्तमान है। इसलिए उनको परमात्मा का पूर्ण अवतार माना जाता है। वह सबके चित्त को आकर्षण करनेवाला है। उनसे कहा जाता है कि हे परमात्मा, तुम मेरे हृदयकमल में श्रीकृष्णरूप से आविर्भूत होकर मेरा जीवन-जन्म सफल करो।

× विश्वजीवनविमोहनच्छविःकोऽसि देव यदुदेषि मेपुरः।
त्वां पिबामि हृदयेन निर्भरं तिष्ठ तिष्ठसविधेक्षणं मम॥३४॥

(३४) देव कः असि (हे लीलामय देवता तुम कौन हो) यत् मे पुरः (जो मेरे सामने) विश्वजीवनविमोहनच्छविः (विश्वविमोहनरूप से) उदेषि (प्रकट हुए हो) त्वां (तुम्हारी रूपमाधुरी को) हृदयेन (सारे दिल से) निर्भरं पिबामि (निश्चिन्त होकर पूरी तरह से पान करूँगा) (तुम) मम सविधे (मेरे सामने) क्षणं तिष्ठ (मुहूर्त भर के वास्ते खड़े हो जाओ)।

आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैतदाप्याय्यते कृत्स्नमलंघ्यवीर्ये ३५

(३५) त्वमेका (तुम ही एक मात्र) जगतः आधारभूता (दुनिया के आधारस्वरूप हो) महीस्वरूपेण (दुनिया के रूप से) स्थितासि (अवस्थिता हो) अलंघ्यवीर्ये (तुम्हारी शक्ति कोई लंघन नहीं कर सकता है) अपां स्वरूपस्थितया त्वया (जलरूप में अवस्थित तुम से) कृत्स्नमेतत् आप्याय्यते (इस सारी दुनिया की प्यास दूर हो रही है)।

अर्थात् हे जगन्मयि माई! तुमने स्थूल-सूक्ष्मभाव से दुनिया को व्याप्त कर लिया है। दुनिया में जो कुछ देखता हूँ वह तुम्हारी ही रूपविभूति है। तुम ही सूक्ष्मभाव में वर्तमान रहकर जीवों को परिणति और तृप्तिविधान कर रही हो।

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
संमोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रपन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ३६॥

(३६) त्वं वैष्णवीशक्तिः (तुम वैष्णवी शक्ति हो) अनन्तवीर्या (अनन्तशक्तिभूता) विश्वस्य बीजं (दुनिया की कारणरूपी तुम ही हो) परमा माया असि (तुम ही महामाया हो) देवि (हे देवि) समस्तमेतत् (सारे जीव-जगतों को) संमोहितं (तुम ही मोहित करके रक्खे हो) त्वं वै प्रपन्ना (तुम अपने आश्रित को) भुवि (दुनिया में) मुक्तिहेतुः (मुक्ति देनेवाली हो) ।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिस्तव्यपरा परोक्तिः ३७॥

(३७) देवि (हे देवि) समस्ता विद्याः तव भेदाः (दुनिया की सारी विद्या तुम्हारी ही विभिन्न मूर्ति है) जगत्सु (दुनिया में) समस्ताः सकलाः स्त्रियः (सब ही तुम्हारी विभिन्न मूर्ति हैं) त्वया एकया अम्बया एतत् आपूरितं (एक मात्र मातृरूपधारी तुम ही सारी दुनिया को पूर्ण करके रखे हो) का ते स्तुतिः (तुम्हारी क्या स्तुति कर सकता हूँ) स्तव्य परा (तुम स्तव से अतीत हो) परोक्तिः (वाक्य से भी अतीत हो)

अर्थात् दुनिया में जो कुछ ज्ञान देखते हैं वह सब तुम्हारे ही अंश का प्रकाश है। दुनिया के सब जीव तुम्हारा ही विकाश हैं। तुमने सत्, चित् और आनन्द से दुनिया को पूर्ण कर रखा है। तुम्हारे सिवा दुनिया में कुछ भी नहीं है। तुम वाक्य और मन से अतीत हो। मैं तुम्हारी क्या स्तुति कर सकता हूँ।

×× त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥३८॥

(३८) तुम माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही बन्धु और सखा हो। विद्या, धन, दौलत भी तुम ही हो। हे देव-देव मेरा जो कुछ है वह सब तुम ही हो।

अर्थात् तुम सब रूपों से सब भावों से मुझे आनन्द दे रहे हो।

×प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् ।
सर्वस्मात् यदेषोऽन्तरतम आत्मा ॥३६॥

(३९) पुत्रात् प्रेयः (तुम पुत्र से प्रिय हो) वित्तात् प्रेयः (वित्त से यानी धन-दौलत से भी प्रिय हो) अन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रेयः (और जो कुछ है उन सबसे भी प्रिय हो) यदेषः अन्तरतमः आत्मा (क्योंकि तुम मेरे अन्तरतम आत्मा हो)।

अर्थात् हे मेरे प्रियतम अन्तरतम आत्मा! तुम सबके भीतर आत्मारूप से वर्तमान हो, इसलिए यह सब जिन्दा हैं और प्रिय हैं। तुम अपकट हो जाओ तो यह सब मुर्दा बन जावेंगे तब सबको फूँक देना पड़ेगा।

माता रामचन्द्रः पिता रामचन्द्रः
सखा रामचन्द्रः सखी रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥४०॥

(४०) रामचन्द्रः माता (रामचन्द्र मेरे माता हैं) रामचन्द्रः पिता (रामचन्द्र मेरे पिता हैं) रामचन्द्रः सखा (रामचन्द्र मेरे सखा हैं) रामचन्द्रः सखी (रामचन्द्र मेरी सखी हैं) दयालुः रामचन्द्रः मे सर्वस्वं (मेरे जो कुछ हैं वह सब दयालु रामचन्द्र ही हैं) अन्यं जाने न (मैं और कुछ नहीं जानता हूँ) जाने नैव (निश्चय है कि मैं नहीं जानता हूँ) जाने न (जान नहीं सकता हूँ)।

अर्थात् इन सबके भीतर मेरे रामचन्द्रजी मौजूद हैं इसलिए यह सब मुझे प्यार करते हैं। दयालु रामचन्द्रजी सबके मूल हैं, मैं उनके सिवा और कुछ नहीं चाहता हूँ।

× आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।

संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥४१॥

(४१) त्वं आत्मा (हे परमात्मा तुम सारे जीवों में आत्मारूप से वर्तमान हो) मतिः गिरिजा (हमारी बुद्धि तुम्हारी भवानी गिरिजा है) प्राणाः सहचराः (हमारे प्राण तुम्हारे साथी हैं) शरीरं गृहं (मेरा शरीर तुम्हारा मन्दिर है) विषयोपभोगरचना ते पूजा (मेरी विषयभोगरचना तुम्हारी पूजा है—तुम ही मेरे भीतर बैठकर विषयों को ग्रहण कर रहे हो) निद्रासमाधिस्थितिः (मेरा निद्रा समाधिस्थिति है, क्योंकि तुम्हारे साथ सोने से बढ़कर समाधि क्या है) पदयोः संचारः प्रदक्षिणविधिः (मेरा चलना-फिरना तुम्हारी प्रदक्षिणा करना है) सर्वा गिरः स्तोत्राणि (मेरी सारी बातें तुम्हारी स्तुति हैं) यद्यत् कर्म करोमि (मैं जो कुछ काम करता हूँ) तत्तदखिलं (वह सब) हे शम्भो (हे कल्याणकारी प्रभो) तवाराधनम् (वह सब तुम्हारी ही आराधना है) ।

अर्थात् हमारा चित्त जब शुद्ध और शान्त हो जावे तब दिव्यदर्शन भी खुल जायगा। तब मेरे आत्मा के भीतर परमात्मा और भीतर के हर एक तत्त्व में परमात्मा का एक-एक तत्त्व नज़र आवेगा, तब मेरे सारे काम ही पूजा हो जावेंगे।

× सर्वेशः सर्वगः साक्षी सर्वेन्द्रियनियामकः ।
विधाता सर्वदृक् कर्ता करुणामय ईश्वरः ॥४२॥

(४२) सर्वेशः (सबके नियन्ता) सर्वगः (सर्वव्यापी) साक्षी (उदासीन भाव से देखनेवाला) सर्वेन्द्रियनियामकः (सारी इन्द्रियों को ठीक ढंग से चलानेवाला) विधाता (कर्मफल के अनुसार विधान करनेवाला) सर्वदृक् (सर्वद्रष्टा) कर्ता (मालिक, सब करनेवाला) करुणामय ईश्वरः (परमात्मा में यह सब लक्षण वर्तमान हैं) ।

✓ ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति ।

यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म तद्ब्रह्मेति ॥४३॥

(४३) यतो वा (जिससे) इमानि भूतानि (सारे जीव-जगत्) जायन्ते (पैदा हुआ है) येन जातानि जीवन्ति (जिसकी कृपा से सब उत्पन्न होनेवाले ज़िन्दा रहते हैं) यत् प्रयन्तभिसंविशन्ति (प्रलय अवस्था में जिनके अन्दर सब लय हो जाते हैं) तत् विजिज्ञासस्व (उनको जानने की कोशिश करते रहो) तद्ब्रह्म तद्ब्रह्मेति (वह ही निश्चित ब्रह्म है)।

अर्थात् दुनिया का सृष्टि, स्थिति, लय करनेवाला जो है वही ब्रह्म है।

√ ×× ॐ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॐ आनन्दरूपममृतम्
यद् विभाति ॐ शान्तं शिवमद्वैतम् ॥४४॥

(४४) सत्यं (परमात्मा विकार-रहित वाक्य और मन के अगोचर अथवा अनन्त कल्याण गुण की खान है) ज्ञानं (वह ज्ञान स्वरूप और सबके ज्ञानों का कारण है) अनन्तं (जिनके स्वरूप का अन्त नहीं मिल सकता है) ब्रह्म (वह सबसे बड़ा है, दुनिया का सृष्टि, स्थिति, लय करनेवाला है) यत् आनन्दरूपममृतं विभाति (जो आनन्द और अमृतरूप से प्रकाशमान है (शान्तं शिवं अद्वैतं (वह स्थिररूपी कल्याण करनेवाला और द्वैतरहित है) ।

अर्थात् परमात्मा सबसे बड़ा, दुनिया की सृष्टि,स्थिति,लय करनेवाला होकर भी अविकृत है। जीवको ज्ञान देनेवाला है। वाक्य और मन उनका प्रकाश नहीं कर सकते हैं। ऐसे आनन्द का वह स्वरूप है कि जिसका विनाश नहीं हो सकता है। आनन्दरूप से और अमृतरूप से वह दुनिया में प्रकट है। उनमें किसी क़िस्म की चञ्चलता नहीं है, वह कल्याण करनेवाला है, उनके सिवा और कोई दूसरा नहीं है।

√ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥४५॥

(४५) नित्यानां नित्यः (सारे नित्य पदार्थों में जो परं नित्यस्वरूप है) चेतनानां चेतनः (सब चेतन जीवों में जो मूल चैतन्यस्वरूप है) एकः यः (जो एकला होकर भी) बहूनां कामान् विदधाति (सबके कर्मानुरूप वासना को पूर्ण कर देता है) ये धीराः (जो शान्त पुरुषगण) तं आत्मस्थं अनुपश्यन्ति (उस परमात्मा को अपनी आत्मा के भीतर दर्शन करते हैं) तेषां शाश्वती शान्तिः (उनको ही नित्य शान्ति मिल जाती है) इतरेषां न (और किसी को वह शान्ति नहीं मिल सकती है)।

अर्थात् जो परमात्मा नित्यस्वरूप, सबको चैतन्य देनेवाला है और जो सबकी वासना पूर्ण करनेवाला है, उस परमात्मा को जो अपने भीतर दर्शन कर लेता है, उसको ही असल शान्ति मिल सकती है।

४× **ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः यद्वाचो ह वाचम्।**
स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः ॥४६॥

(४६) यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो कि कान में रहने से आदमी सुन सकता है) मनसो मनः (जो मन में रहने से आदमी विचार कर सकता है) वाचोवाचं (जो जीभ में रहने से आदमी बात कर सकता है) स उ (वह ही फिर) प्राणस्य प्राणः (प्राण में रहने से आदमी जिन्दा रहता है) चक्षुषः चक्षुः (वही आँखों में रहने से आदमी देख सकता है)।

अर्थात् परमात्मा की ही शक्ति से हम देखते हैं, सुनते हैं, सब काम कर सकते हैं, और जिन्दा रहते हैं।

यः सर्वतत्त्वे तिष्ठन् सर्वतत्त्वस्यान्तरः।
यं सर्वतत्त्वं न वेद यस्य सर्वतत्त्वं शरीरम् ॥
यः सर्वतत्त्वं यमयति स आत्मा अन्तर्यामी ॥४७॥

(४७) यः सर्वतत्त्वे तिष्ठन् (जो सारे तत्त्वों में वर्तमान होकर) सर्वतत्त्वस्य अन्तरः (सब तत्त्वों से अतीत है) यं सर्वतत्त्वं न वेद (जिसको कोई तत्त्व नहीं जान सकता है) सर्वतत्त्वं यस्य शरीरं (सब तत्त्व जिनका शरीर हैं) यः सर्वतत्त्वं यमयति (जो सब तत्त्वों का नियामक और चालक है) सः (वहा) अन्तर्यामी आत्मा (अन्तर्यामी परमात्मा है)।

अर्थात् जो सब घट-घट में रहकर सबको चलाता है, जिनको कोई नहीं जानता है, वही अन्तर्यामी परमात्मा है।

✓ × तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥४८॥

(४८) तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं (सब ईश्वरों के ऊपर जो परमेश्वर है उनको) देवतानां परमं च दैवतं तं (सब देवताओं के ऊपर जो परम देवता है उनको) पतीनां पतिं (पालनकर्ताओं में जो पालन करता है उनको) परस्तात् परमं (सब विषयों में जो श्रेष्ठ है उनको) भुवनेश्वरं (सारी दुनिया के जो ईश्वर हैं उनको) ईड्यं देवं (पूज्य देवता को) विदाम (हम जानेंगे, जानने की कोशिश करेंगे)।

✓ ॐ रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति तृप्तीभवति अमृतीभवति ॥४६॥

(४९) सः (वह परमात्मा) रसो वै (रसस्वरूप है) अयं (यह जीव) रसं हि लब्ध्वा (रसस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके) आनन्दीभवति (आनन्दित होता ह) तृप्ती भवति (तृप्त होता है) अमृती भवति (अमृत-स्वरूप हो जाता है ।

✓ ॐ यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न रमते नोत्साहीभवति ॥५०॥

(५०) यत् प्राप्य (जिनको प्राप्त होने से) न किञ्चित् वाञ्छति (जीव और कुछ भी नहीं चाहता है) न शोचति (कुछ भी शोक नहीं करता है) न रमते (किसी विषय में आसक्त नहीं होता है) नोत्साहीभवति (और किसी चीज़ के लिए या किसी काम में उत्साही नहीं होता है)।

✓ ॐ यज्ज्ञानान्मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ॥५१॥

(५१) यत् ज्ञानात् (जिस ज्ञान को प्राप्त करके) मत्तः भवति (जीव मत्त हो जाता है) स्तब्धः भवति (शान्त हो जाता है) आत्मारामः भवति आत्माराम हो जाता है।

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितं
स्तुत्यानिर्वचनीयताऽखिलगुरोर्दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥५२॥

(५२) रूपविवर्जितस्य (रूप से रहित तुम्हारा) ध्यानेन (ध्यान के द्वारा) यत् रूपं कल्पितं (मैंने जो रूप कल्पना किया है) अखिलगुरोः अनिर्वचनीयता (सबके गुरु वाक्य मन से अतीत जो तुम हो उनके स्वरूप का) स्तुत्या (स्तुति के द्वारा) यन्मया दूरीकृता (मुझसे जो लंघन हुआ है) भगवतः व्यापित्वं च (हे भगवन्! तुम्हारे सर्वव्यापी भाव को) तीर्थयात्रादिना यत् निराकृतं (तीर्थयात्रा द्वारा जो खंडन किया है) जगदीश (हे परमात्मा) मत्कृतं तद् विकलता दोषत्रयं (मुझसे जो त्रिविध दोष हुआ है) तत् क्षन्तव्यं (तुमको मुआफ़ करने के योग्य है)।

अर्थात् तुम अरूप हो तब भी मैंने ध्यान की सुगमता के लिए तुम्हारा रूप कल्पना किया है, तुम वाक्य, मन से अतीत तत्त्व हो, तब भी मैंने स्तव द्वारा तुम्हारा स्वरूप वर्णन करने की कोशिश की है, तुम सर्वव्यापक हो, तब भी मुझसे तीर्थ-परिक्रमादि द्वारा तुम्हारी व्यापकता खंडित हो गई है। मेरे इन दोषों को तुम कृपा करके मुआफ़ करना।

न्यास—

× देहेन्द्रियाणि च मनो न तु मे तवैव
स्वात्मीयबान्धवगणा न तु मे तवैते।
सर्वं त्वदीयमिति मे प्रियमेव सर्वं
त्वत्प्रीतये सततमेव नियोजयानि ॥५३॥

न्यास—

निपूर्वक अस धातु से न्यास शब्द साधित है। "अस क्षेपणे स्थापने च"। इन्द्र देवता स्वर्ग के राजा हैं। महिषासुर उनको परास्त करके स्वर्ग का राजा बन गया था, अब महिषासुर को परास्त करके इन्द्र को स्वर्ग के राज्य पर बैठाना है, न्यासक्रिया।

अंगन्यास—

अपने शरीर-इन्द्रियादि का मालिक मैं नहीं हूँ। मैंने इसको नहीं बनाया और न यह मेरे साथ जावेगा, परमात्मा ने ही इसको बनाया है, वही इसका मालिक है। मेरा अहंकार परमात्मा को ढककर शरीर का मालिक बन बैठा है। अब इस अहंकार को दबाकर परमात्मा को इस शरीर का, सारे धन-दौलत व नातेदारों का मालिक समझ लेना ही अंगन्यास का मतलब है।

अगंन्यासक्रिया से मालूम हो जाता है कि यह शरीर-इन्द्रियादि अंग, मा-बाप आदि नातेदार व धन-दौलत मेरे नहीं हैं। वह सब परमात्मा के ही हैं।

इसलिये मुझको चाहिए कि इन सबको प्रेम से देखता रहूँ, लेकिन किसी से आसक्ति न रहे, कहीं भी स्वामित्व न बोध करके सबकी सेवा करता रहूँ।

(५३) देहेन्द्रियाणि मनः च न मे तु तव एव (यह देह-इन्द्रियादि और मेरा मन मेरे नहीं हैं, यह सब तुम्हारे ही हैं) स्वात्मीयबान्धवगणाः (अपने नातेदार बन्धु-बान्धव) न तु मे एते तव (यह सब मेरे नहीं हैं, यह सब तुम्हारे ही हैं) सर्वं त्वदीयं (यह सब तुम्हारे ही हैं) इति (इसलिये) सर्वं मे प्रियमेव (यह सब मेरे निश्चित ही प्रिय हैं) त्वत्प्रीतये एव (तुम्हारी खुशी के लिए ही) सततं नियोजयानि (इन सबको तुम्हारे ही काम में लगाना चाहिए)

अर्थात् मेरे शरीर, मन आदि व बन्धु-बान्धव यह सब तुम्हारे ही हैं। इसलिए इन सबको अनासक्त होकर प्रेम से देखना और तुम्हारे ही काम में लगाना चाहिए।

करन्यास—

मैं करता हूँ, इस बुद्धि के त्याग का नाम करन्यास है। मेरा यह शरीर था एक बूँद खून। परमात्मा ने ही इसको ऐसा सुन्दर और काम करने के लायक बनाया है। वह इसको चला रहा है। मुझे यह भी मालूम नहीं है कि यह कैसे चल रहा है। इसके ऊपर मुझे कुछ भी इख़तियार नहीं है। तब भी मेरा अहंकार सब काम का कर्ता बनना चाहता है। करन्यास क्रिया से साबित हो जाता है कि परमात्मा ही मेरा मालिक है। उसीने इस शरीर को बनाया है और वही इसको चला रहा है। मेरे भीतर बैठकर वही सब कुछ कर रहा है। मैं करता हूँ, जाता हूँ, खाता हूँ, यह बात बिलकुल झूठ है। सब काम मेरे भीतर से किया जाता है, मगर मैं कर्त्ता नहीं हूँ।

× **देहस्य बीजमतिसूक्ष्ममणुप्रमाणं**
सृष्टं त्वयैव सुविचित्रतया च पुष्टम्।
सर्वात्मना परिणतं कृतियोग्यदेहे
कर्तृत्वबुद्धिरिह नास्तु कदापि नाथ ॥ ५४ ॥

(५४) देहस्य बीजं अतिसूक्ष्मं अणुप्रमाणं (इस देह का बीज पहले परमाणु के बराबर अति सूक्ष्म था) त्वया एवं सृष्टं सुविचित्रतया पुष्टं सर्वात्मना परिणतं (तुमने ही इस देह को सृष्टि करके ऐसा परिणत और सब काम के लायक बनाया है) नाथ (हे नाथ) इह कृतियोग्यदेहे (इस सुन्दर कार्यक्षम देह के विषय में) कर्तृत्वबुद्धि कदापि न अस्तु (मुझे कभी कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखना चाहिए)

अर्थात् जो देहादि मैंने नहीं बनाया, जिसका चालक भी मैं नहीं हूँ, जिसको तुमने ही बनाया है, तुम ही चला रहे हो, उसमें मुझे अपने को कर्त्ता नहीं समझना चाहिए।

× यन्त्री त्वमेव तव यन्त्रमिदं शरीरं
स्वयेच्छयैव परिचालयसि प्रभुत्वात्।
एवं मनोऽपि मम देव मतं त्वयैव
बुद्धिः स्थिरा मम हृषीकपतेऽत्र भूयात् ॥५५॥

(५५) त्वम् एव यन्त्री (इस देहरूप यन्त्र के चलानेवाले तुम ही हो) इदं शरीरं तव यन्त्र (यह शरीर तुम्हारे हाथ का यन्त्र है) प्रभुत्वात् (तुम इसके मालिक हो इसलिए) स्वयाइच्छया एव परिचालयसि (अपनी खुशी से इसको चला रहे हो) एवं मम मनः अपि (इसी तरह यह मेरा मन भी) त्वया एव मतं (तुमसे ही चालित होता है, यह ही मेरा विश्वास है) देव हृषीकपते (हे देव हृषीकेश) अत्र मम बुद्धिः स्थिरा भूयात् (यह तत्त्व मेरे मन में हमेशा मौजूद रहे)

व्यापकन्यास—

परमात्मा सर्वव्यापक है। वह सब घट-घट में विराजमान है। जीव-जगत परमात्मा की ही मूर्ति है, उनकी ही लीला का खेल है। परमात्मा सब फल-फूलों में, समुद्र में, आसमान में कैसे सुन्दररूप में विराजमान है, सब जीवों

के भीतर बैठकर कैसा खेल रहा है, कैसा सबको आनन्द दे रहा है, कैसा आनन्द ले रहा है। उसको मालूम करना ही व्यापकन्यास का मतलब है। इससे दिव्य दर्शन खुल जाता है, सर्वत्र ब्रह्मानुभूति हासिल हो जाती है।

× त्वं सर्वभूतेषु विराजसे सदा
सर्वेषु जीवेष्वसि जीवनं स्वयम्।
त्वद्दर्शनं सर्वग मेऽस्तु सर्वत-
स्तवैव पूजास्तु च कर्मभिर्मम ॥५६॥

(५६) त्वं सदा सर्वभूतेषु विराजसे (तुम सदा सर्वभूत में विराजमान हो) सर्वेषु जीवेषु स्वयं जीवनं असि (तुम सब जीवों के जीवन धारण करने का मुख्य कारण हो) सर्वग:(हे सर्वव्यापक) ! सर्वत्र त्वद्दर्शनं मे अस्तु (सब भूतों में तुम्हारा दर्शन लाभ करना चाहता हूँ) मम कर्मभि: च तव पूजा अस्तु (मैं अपने सब कामों को तुम्हारी पूजा में परिणत करना चाहता हूँ)।

अर्थात् सर्वत्र तुम्हारा दर्शन, सबमें तुम्हारा ध्यान, सबके भीतर से तुम्हारी सेवा करने की योग्यता मुझे दे दो।

उपचारसमर्पण—

×× यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि गोविन्द तत्करोमि त्वदर्पणम् ॥५७॥

उपचारसमर्पण—

उपचार का अर्थ पूजा की सामग्री है। पुष्प, धूप, दीप, पानी आदि और हमारा मन, बुद्धि, आत्मा तक सब ही पूजा की सामग्री हैं। यह सब परमात्मा के पास से आये हैं। परमात्मा को ही निवेदन कर देने से यह सफल हो जायँगे। पूजा की सब सामग्री शुद्ध करके ऐसे भाव से परमात्मा को निवेदन करना चाहिए कि जिससे यह सब परमात्मा के पास ही जाकर पहुँच जावें।

आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ उपचार (पूजा की सामग्री) है। इसलिए आत्मनिवेदन करना चाहिए अर्थात् सब कामों की पूजा में परिणत करना चाहिए। ईसा-मसीह का आत्मदान एक श्रेष्ठ पूजा थी। उपचारसमर्पण के फल से हमारा स्नान, आहारादि और जीवसेवादि काम भी शिव-सेवा (पूजा) में शामिल हो जाते हैं। अपने-अपने अधिकार के अनुसार कोई ध्यान आदि सूक्ष्म भावों के उपचार से और कोई-कोई समाधियोग में आत्मारूप श्रेष्ठ उपचार से पर-मात्मा की पूजा करते हैं।

(५७) यत् करोमि (मैं जो कुछ भी करता हूँ) यदश्नामि (मैं जो कुछ खाता-पीता हूँ) यद् जुहोमि (जो कुछ हवन करता हूँ, परमात्मा की प्रीति के लिए काम करता हूँ) यत् ददामि (जो कुछ दान करता हूँ) यत्तप-स्यामि (जो कुछ तप करता हूँ) गोविन्द (गोभिः इन्द्रिय द्वारा वेद्य, जानने के योग्य, भोग करने के योग्य, जो इन्द्रिय नियामक और इन्द्रिय का चालक है उस गोविन्द को) तत् (यह सब) अर्पणं करोमि (अर्पण करता हूँ यह सब तुम्हारी पूजा में दाखिल हो जावे)।

× त्वद्ध्यानतोऽन्यन्न च चिन्तयानि
त्वत्कर्मतो वा करवाणि नान्यत्।
द्रव्याणि सर्वाणि च मे तवैव
त्वय्येव तेषां भवतु प्रयोगः॥ ५८॥

(५८) त्वत् ध्यानतः अन्यत् न च चिन्तयानि (मैं तो तुम्हारा ध्यान छोड़कर और कुछ भी चिन्ता नहीं करना चाहता) त्वत् कर्मतः वा अन्यत् न करवाणि (तुम्हारा काम छोड़कर और कुछ भी काम नहीं करना चाहता) मे सर्वाणि द्रव्याणि (मेरी जो कुछ भी चीजें हैं) तव एव (यह सब तुम्हारी ही हैं) त्वयि एव तेषां प्रयोगः भवतु (ऐसा करो कि यह सब तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण होने में इस्तेमाल हो जावें)।

अर्थात् तुम्हारा ध्यान छोड़कर कोई चिन्ता, तुम्हारी पूजा छोड़कर कोई

काम मुझसे होना नहीं चाहिए। मेरा ध्यान और काम ऐसा होना चाहिए कि तुम्हारी पूजा में परिणत हो सके।

× आत्मानमात्मीयगणांस्तथैव च
याभिः क्रियाभिः परितोषयाम्यहम्।
ताभिः सदैवेश्वर तृप्तिरस्तु ते
ताभिस्तवैवार्चनबुद्धिरस्तु मे ॥ ५९ ॥

(५९) अहं याभिः क्रियाभिः (मैं जो कुछ भी कामों से) आत्मानं तथा आत्मीयगणान् एव च परितोषयामि (अपनी आत्मा और अपने नातेदारों को खुश कर रहा हूँ) ईश्वर (हे जगदीश्वर!) ताभिः (उन कामों के द्वारा) सदा ते तृप्तिः अस्तु एव (सदा ज़रूर तुम्हारी खुशी हो जावे) ताभिः तव एव अर्चनबुद्धिः मे अस्तु (ऐसी बुद्धि दीजिए कि मैं जान सकूँ कि इन सब कामों से तुम्हारी ही पूजा हो रही है)।

अर्थात् मुझमें यह विश्वास दृढ़ कीजिए कि सबकी सेवा से तुम्हारी पूजा हो जाती है। मैं ऐसा काम करना चाहता हूँ कि जो तुम्हारे अनुमोदित हो, ऐसे ढंग से करना चाहता हूँ कि जिससे मेरे सारे काम तुम्हारी ही पूजा में शामिल हो जावें और तुम्हारी खुशी हो जावे।

×शब्दस्पर्शादिभिस्ते प्रकृतिरविरतां यां सपर्यां विधत्ते
तस्या मर्मग्रहो मे भवतु हृदि सदा भक्तिभावश्च देव।
तत्पूजायां ममापि प्रकृतिसहकृतौ दीयतां मेऽधिकारः
त्वल्लीलायां च योगो मम भवतु सदा सुस्थिरस्त्वत्प्रसादात् ६०

(६०) प्रकृतिः (जगन्मयी मायी) शब्दस्पर्शादिभिः (शब्द, स्पर्शादि विषय द्वारा) अविरतां यां सपर्य्यां विधत्ते (जो हर वक्त तुम्हारी पूजा कर रही है) तस्याः मे मर्मग्रहः भवतु (मैं उसका मर्म उसके भीतर के भाव को

ग्रहण करना चाहता हूँ) हे देव (हे लीलामय परमात्मा) ! हृदि सदा भक्तिभावश्च (मेरे हृदय में सदा भक्तिभाव बना रहे)। प्रकृतिसहकृतौ (प्रकृति देवी के साथ) मम अपि (मुझे भी) तत् पूजायां मे अधिकारः दीयतां (तुम्हारी पूजा के विषय में अधिकार देते रहो) त्वत् प्रसादात् (तुम्हारे अनुग्रह से) सदा सुस्थिरः (सदा शान्त होकर) त्वल्लीलायां च मम योगः भवतु (तुम्हारी लीला में मुझे योग देने की इजाज़त मिलनी चाहिए)।

अर्थात् प्रकृति देवी शब्द, स्पर्शादि द्वारा हमेशा परमपुरुष की पूजा कर रही हैं। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ। इसलिये मुझे भी चाहिये कि मैं उनकी पूजा का रहस्य जानकर अपने अधिकार के मुआफ़िक़ उसी पूजा में शामिल हो जाऊँ। हे परमात्मा, कृपा करके तुम अपनी लीला में योगदान करने की शक्ति दो।

×× **मयार्प्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा**
प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वम्।
किंचिन्निजस्वं न हि विद्यते मे
यद्दीयते तच्चरणे मुकुन्द ॥६१॥

(६१) मया अयं आत्मा त्वचरणे अर्प्यते (मुझसे अपना आत्मा तुम्हारे चरणों में अर्पित होता है) हे (सर्वात्मन्) ! मुकुन्द (हे मुक्तिदाता) ! त्वं स्वयं स्वस्य धनं प्रतीच्छ (तुम खुद अपना धन आप ग्रहण करो)। त्वच्चरणे यद्दीयते (तुम्हारे चरणों में जो कुछ दिया जाता है) मे निजस्' किञ्चित् न हि विद्यते (उसमें मेरा कुछ भी नहीं है)।

अर्थात् मेरा यह आत्मा तुम्हारा ही है, तुम अपनी चीज ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करो।

मां मदीयं सकलं सम्यक् मम इष्टदेवतायै
परमात्मने समर्पयामि ॥६२॥

(६२) मां मदीयं सकलं सम्यक् (मैं अपने को और मेरा जो कुछ है उस सबको अच्छी तरह से) मम इष्टदेवतायै परमात्मने (अपने इष्ट देवता परमात्मा के पास) समर्पयामि (निवेदन कर देता हूँ) ।

यद्यत्कृतं हृषीकेश तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥६३॥

(६३) यत् यत् कृतं हृषीकेश तत् सर्वं न मया कृतं (हे हृषीकेश ! मुझसे जो कुछ काम किया जाता है) तत् सर्वं न मया कृतं (उसका कर्त्ता मैं नहीं हूँ) तु (परन्तु—लेकिन) त्वया कृतं तु (वह सब तुमसे ही किया गया है) मधुसूदन (हे मधुसूदन) ! त्वमेव फलभुक् (इन सब कामों का फल तुमको ही मिलना चाहिए) ।

अर्थात् काम कुछ भी मैं नहीं करता हूँ तुम ही मेरे भीतर बैठकर सब कर लेते हो ।

हृदासनमधिष्ठाय प्रसीद मम पूजया ।
त्वयि प्रीते हृषीकेश क्लेशः संक्षीयतेऽखिलः ॥६४॥

(६४) हृषीकेश (हे हृषीकेश) ! हृदासनमधिष्ठाय (मेरे हृदयरूप आसन में बैठकर) मम पूजया प्रसीद (मेरी पूजा से प्रसन्न हो जाओ) त्वयि प्रीते अखिलः क्लेशः संक्षीयते (तुम्हारे प्रसन्न होने से सब क्लेश दूर हो जाते हैं) ।

गायत्री—

अपने अपने इष्टदेव की ॥६५॥

गायत्री—
भगवान् को जानूँगा, जगत्-जीव के भीतर से उनको आस्वाद करूँगा

उनके साथ संसार में लीला करता रहूँगा, उनकी लीला में सहायक हो जाऊँगा। यही सब मंत्रों का सार है।

(६५) अपना-अपना गायत्री मन्त्र जप करना चाहिए। जैसे इष्ट मन्त्र बहुत क़िस्म के हैं, इसी तरह गायत्री भी बहुत क़िस्म की है। नमूने के तौर पर दो-तीन गायत्री के अर्थ दिये जाते हैं।

(१) कृष्णजी का एक मन्त्र है "ॐ क्लीं कृष्णाय नमः"। इसमें क्लीं बीज है। उसका अर्थ यही है कि मैं अपने परमात्मा को स्वामीभाव से प्राप्त करना चाहता हूँ। वह सर्वचित्ताकर्षक सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह मुझे चाहता है। मैं न होऊँ तो उनका काम नहीं चलता है इसलिये मुझको उनसे मिलने की प्रवृत्ति पैदा होती है। उनसे मिलना कठिन नहीं है क्योंकि वह ख़ुद ही मिलना चाहते हैं।

गायत्री—"कामदेवाय विद्महे पुष्पधन्वाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्"—

मैं कामदेव को, सर्वचित्ताकर्षक मदनमोहन को जानना चाहता हूँ। शब्द-स्पर्शादि पंचविषय उनके तीर हैं जिसके सहारे से वह हमारे पास आ जाता है। मुझे चाहिए कि इन्द्रिय, मन आदि को शुद्ध करके यह जान लूँ कि वह कैसे किस वक़्त मेरे पास आता है और उन के ध्यान में मग्न रहूँ; मुझमें यह समझने की शक्ति पैदा हो जावे कि वह मेरे भीतर प्रवेश करके मेरे भीतर के सब तत्त्वों को प्रकाश करके सब तत्त्वों को अपने काम में लगाते हैं। इस मन्त्र में तीन हिस्से हैं, प्रथम हिस्सा उच्चारण करके चित्त को मूलाधार से सहस्त्रार (भगवत्-धाम) में ले जाना चाहिए। दूसरा हिस्सा उच्चारण करके परमात्मा का रोशनी में मग्न होकर मालूम करना चाहिए कि सब शब्द-स्पर्शादि कैसे उनके पास जाकर पहुँचते हैं। तीसरा हिस्सा उच्चारण करके चित्त को सहस्त्रार से मूलाधार की तरफ़ ले जाते हुए देखना चाहिए कि भगवत्-ज्योति कैसे इन सब तत्त्वों में प्रवेश करके इन सबको परमात्मा की इच्छा पूर्ण करने की सामर्थ्य देती है।

(२) काली माई का एक मंत्र—'ओं क्रीं कालिकायै नमः'—मैं कालका

आश्रयस्वरूपा काली माई से मातृभाव में मिलकर जीवन सफल करना चाहता हूँ।

अर्थात् परमात्मा की शक्ति से दुनिया की सृष्टि, स्थिति, लय कैसे साधित होते हैं उसको जानकर उनको मातृभाव में प्राप्त होकर उनमें तन्मयता लाभ करना चाहता हूँ।

गायत्री—"ॐ कालिकायै विद्महे श्मशानवासिन्यै धीमहि तन्नो घोरे प्रचोदयात्" मैं काली माई को जानकर सब कामना, वासना, आसक्ति आदि दूर करके अपने चित्त को मशान बनाकर (खाली करके) उसी चित्त में मशानवासिनी काली माई का दर्शन करूँ। तब मुझे घोर संसार में और कुछ भी डर नहीं रहेगा। माई को अपने भीतर देखकर, अपने आपको माता की गोद में बैठे हुए मालूम करके किसी भी मुसीबत में मुझको कुछ भी फ़िक्र करने का ज़रूरत नहीं है।

(३) रामचन्द्रजी का एक मन्त्र—

"ॐ रां रामाय नमः"—मैं आनन्ददायक रामचन्द्रजी को नमस्कार करता हूँ, उनकी शरण लेता हूँ। रामचन्द्रजी के हुकुम के मुआफ़िक़ चलकर ज़िन्दगी तैयार करके परमानन्द को प्राप्त होना चाहता हूँ।

गायत्री—"ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमही तन्नो रामः प्रचोदयात्।" मैं दसों इन्द्रियों को वश में करके रामचन्द्रजी का तत्त्व मालूम करके सीतापति (मूलप्रकृति के स्वामी) रूप में उनका ध्यान करके आनन्द में मग्न होकर सबको आनन्द देता रहूँगा।

प्रणाम—

प्रणाम व नमस्कार शब्द का अर्थ यही है कि अपना अहंकार (ख़्याल) छोड़कर परमात्मा के विधान के मुआफ़िक़ चलना अर्थात् गुरु, इष्ट और भगवान् को मानना, भगवत्-विधान के पास नत रहना, उसको पालन करने के वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ रहना, सब भूतों के, सब जीवों के, सब भावों के भीतर से परमात्मा का स्मरण करना, और परमात्मा को प्रणाम करना।

गुरुप्रणाम—जिनकी कथा, भाव और काम के भीतर से मेरा इष्ट तत्त्व प्रकट हो जाता है वही मेरे गुरु हैं। परमात्मा को मैं नहीं देख सकता हूँ।

जिन्होंने उनको देखा है, जो परमात्मा के भाव में मग्न रहते हैं, जिनका आदर्श जीवन लोभनीय है, जिनकी मदद से परमात्मा से मिलन सहज हो जाता है वही मेरे गुरु हैं।

× अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६६॥

(६६) अखण्डमण्डलाकार (सब घट-घट में पूर्ण व ब्रह्माण्डव्यापीरूप से) व्याप्तं येन चराचरं (जो सारी दुनिया में व्याप्त है) येन तत्पदं दर्शितं (ऐसे परमात्मा का स्वरूप और उनसे मिलने का रास्ता मुझको जिन्होंने बता दिया है) तस्मै श्रीगुरवे नमः (मैं उन सद्गुरुजी को प्रणाम करता हूँ)।

× अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६७॥

(६७) येन (जिन गुरुदेव ने) ज्ञानाञ्जनशलाकया (ज्ञान-अंजन लगाकर) अज्ञानतिमिरान्धस्य चक्षुः उन्मीलितं (अज्ञान में डूबे हुए मेरे अन्धकार को दूर कर दिया है) तस्मै श्रीगुरवे नमः (मैं उन सद्गुरु को नमस्कार करता हूँ)।

×× मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः।
ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६८॥

(६८) मन्नाथः श्रीजगन्नाथः (सारी दुनिया का जो पालन करनेवाला है वही मुझे भी पालन कर रहा है, परमात्मा सबके भीतर बैठकर पालन करता है) मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः (सारी दुनिया का जो गुरु है वही मेरा भी गुरु है—परमात्मा ही सबके भीतर बैठकर मुझे शिक्षा दे रहे हैं) ममात्मा सर्वभूतात्मा (सर्वभूत का जो आत्मा है वही मेरा भी आत्मा है) तस्मै श्रीगुरवे नमः (मैं उन सद्गुरुजी को नमस्कार करता हूँ)।

अर्थात् जो एक ही परमात्मा सब घट-घट में बैठकर मुझे पालन कर रहे हैं

और मुझे ज्ञान दे रहे हैं मैं उन परमात्मा को सबके भीतर से नमस्कार करता हूँ।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ ६९ ॥

(६९) ब्रह्मानन्दं (ब्रह्मानन्दस्वरूप) परमसुखदं (परमानन्द देनेवाला) केवलं (एकमात्र कैवल्यरूपी) ज्ञानमूर्तिं (ज्ञानविग्रहस्वरूप) द्वन्द्वातीतं (सुख-दुःखादि द्वन्द्वभाव से रहित) गगनसदृशं (आकाश के समान व्यापक) तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं (तुम ही ब्रह्मस्वरूप हो इत्यादि वाक्य का लक्ष्य—अर्थात् तत्त्वमसि आदि वाक्य जिसकी महिमा प्रकट करते हैं) एकं नित्यं विमलं अचलं (द्वितीयरहित, नित्य, शुद्ध, शान्तस्वरूप) सर्वधीसाक्षिभूतं (सब बुद्धिवृत्तियों का साक्षीस्वरूप) भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं (भाव और गुण से अलग रहनेवाले जो मेरे सद्गुरु हैं) तं नमामि (मैं उनको प्रणाम करता हूँ)।

×× सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय परमात्मने।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे ब्रह्मसाक्षिणे ॥ ७० ॥

(७०) इष्टप्रणाम—सच्चिदानन्दरूपाय (सच्चिदानन्दस्वरूप) परमात्मने (परमात्मस्वरूप) वेदान्तवेद्याय (वेदान्त जिसकी महिमा वर्णन करते हैं) गुरवे (ज्ञान देनेवाले) ब्रह्मसाक्षिणे (जो ब्रह्म को प्रमाणित करता है—जो ब्रह्मस्वरूप है) कृष्णाय (ऐसे चित्ताकर्षक कृष्णजी महाराज को) नमः (नमस्कार कर रहा हूँ)।

अर्थात् मेरे कृष्णजी सच्चिदानन्दघनमूर्ति मेरे परमात्मा हैं। वेद-वेदान्त

उनका महिमा प्रचार कर रहे हैं। वह साक्षात् परब्रह्म का लीलास्वीकृतविग्रह हैं। मैं ऐसे सर्वचित्ताकर्षक मेरे इष्ट जो कृष्णजी हैं उनको नमस्कार करता हूँ।

× कृष्णं स्मरामि ममैकवल्लभं कृष्णं भजामि ममैकरक्षकम्।
कृष्णं जपामि ममैकसाधनं कृष्णं नमामि ममैकजीवनम्॥७१॥

(७१) ममैकवल्लभं (मेरे एकमात्र मालिक) कृष्णं स्मरामि (किशनजी को स्मरण करता हूँ) ममैकरक्षकं (मेरे एकमात्र रक्षक) कृष्णं भजामि (किशनजी का भजन करता हूँ) ममैकसाधनं (मेरे एकमात्र साधन अर्थात् लक्ष्य) कृष्णं जपामि (किशनजी का नाम जप करता हूँ) ममैकजीवनं (मेरे एकमात्र जीवन अर्थात् मेरे जो कुछ हैं किशनजी ही हैं) कृष्णं नमामि (किशनजी को नमस्कार करता हूँ)।

अर्थात् श्रीकिशनजी के सिवा मैं और किसी को अपना मालिक नहीं समझता हूँ। वही मेरे रक्षक हैं। उनका नाम जप करना, उनके ध्यान में मग्न रहना ही हमारी साधना है। मेरे जो कुछ हैं वह किशनजी ही हैं।

✓ यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥७२॥

(७२) यं (जिनका) ब्रह्मावरुणइन्द्ररुद्रमरुतः (ब्रह्मादि देवगण) दिव्यैः स्तवैः स्तुन्वन्ति (दिव्य स्तोत्रों से भजन करते हैं) यं सामगाः साङ्गपदक्रमोपनिषदैः वेदैः गायन्ति (जिनकी महिमा सामवेदी ऋषि लोग वेद-वेदान्तादि ग्रन्थ के द्वारा गान करते हैं और प्रचार करते हैं) यं योगिनः (जिनको योगी, मुनि आदि) ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति (ध्यान में समाहित होकर शान्तचित्त में दर्शन करते हैं) सुरासुरगणाः (देवासुरगण) यस्य अन्तं न विदुः (जिनका अन्त नहीं जानते हैं) तस्मै देवाय नमः (उसी देवता को मैं नमस्कार करता हूँ)।

× ॐ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वः सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो देवः तस्मै सर्वात्मने नमः ॥७३॥

(७३) यस्मिन् सर्वे (जिसमें सब) यतः सर्वे (जिससे सब) यः सर्वः (जो सब) यः सर्वतः च (जो सर्वत्र व्यापक है) यश्च सर्वमयः देवः (जो सर्वमय देवता है) तस्मै सर्वात्मने नमः (मैं उसी सर्व आत्मा श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ)।

× या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७४॥
× या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७५॥
× या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७६॥
× या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७७॥
× या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७८॥

(७४ से ७८) या देवी (जो देवी, परमात्मा की शक्ति) सर्वभूतेषु (सब भूतों में) मातृरूपेण (मातृ, पितृ, भ्रातृ, जीव-जन्तु आदिरूप में) शक्तिरूपेण (प्राण, ताक़त आदि रूप में) बुद्धिरूपेण (ज्ञानरूप में) कान्तिरूपेण (सौन्दर्यरूप में) शान्तिरूपेण (आनन्दरूप में) संस्थिता (विराजमान है) तस्यै नमः तस्यै नमः तस्यै नमः (उनको बार-बार नमस्कार करता हूँ)।

अर्थात् दुनिया में मा-बाप, बहिन आदि शक्ति, बुद्धि, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, आनन्दरूप में जो कुछ देखता हूँ, अनुभव करता हूँ वे सब उनकी ही विभूति हैं। इन सब विभूतियों का आश्रय करके उनके पास जाने की कोशिश करना चाहिए।

✓ शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥७९॥

(७९) शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे (शरणागत दीन-दुखी की रक्षा करने में तत्परा) सर्वस्य आर्ति हरे (सब जीवों की तकलीफ़ दूर करनेवाली) देवि नारायणि ते नमः अस्तु (उस भगवती नारायणी को नमस्कार है)।

✓× सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥८०॥

(८०) सर्वमङ्गलमङ्गल्ये (सारे मंगल देनेवाली और मंगल को प्राप्त करने का रास्ता बतानेवाली) शिवे (कल्याण करनेवाली) सर्वार्थसाधिके (सब अभाव पूर्ण करनेवाली) शरण्ये (आश्रय देनेवाली) त्र्यम्बके (त्रिनयनी—भूत, भविष्यत्, वर्तमान देखकर जो त्रिविध दुःख दूर कर रही है) गौरि (हे गौरि भगवती)! नारायणि (हे नारायणी)! ते नमः अस्तु (तुमको नमस्कार है)।

अर्थात् जो मंगलमयी सबको कल्याण का रास्ता बताती हैं, जो जीव के कल्याण करने में तत्पर रहती हैं, जो जीव के सारे प्रयोजन मिटाती हैं, जो दुःख दूर करनेवाली, परमपद देनेवाली हैं, उनको नमस्कार है)।

✓× सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥८१॥

(८१) सर्वस्वरूपे (सर्वस्वरूप) सर्वेशे (सबकी ईश्वरी) सर्वशक्तिसमन्विते (सर्वशक्तियुक्ता) देवि (हे देवि)! भयेभ्यः नः त्राहि (सब भयों से हमारी रक्षा करो) दुर्गे देवि ते नमः अस्तु (हे दुर्गे भगवती तुमको नमस्कार है)।

×× ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥८२॥

(८२) यः देवः अग्नौ (जो देवता आग में) यः अप्सु (जो जल में) यः विश्वं भुवनम् आविवेश (जो सारी दुनिया में अनुप्रविष्ट है यानी छिप गया है) यः ओषधीषु (जो औषध में) यः वनस्पतिषु (जो वनस्पति में विराजमान है) तस्मै देवाय नमो नमः (मैं उस देवता को बार-बार नमस्कार करता हूँ) ।

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥८३॥

(८३) खं (आकाश) वायुं (हवा) अग्निं (आग) सलिलं (जल) महींच (पृथिवी) ज्योतींषि (ज्योतिर्मय पदार्थ) सत्त्वानि (सब प्राणी) दिशः (दश दिशा) द्रुमादीन् (वृक्षादि) सरित् समुद्रान् च (नदी समुद्रादि सब) यत्किञ्च भूतं (जो कुछ भी नजर में आते हैं) हरेः शरीरं (वह सब परमात्मा का ही शरीर वा विभूति हैं) अनन्यः (और कुछ नहीं जानकर) प्रणमेत् (विधिपूर्वक सबको प्रणाम करना चाहिए) ।

अर्थात् जीव-जगत् परमात्मा की ही मूर्ति है इसलिए सबको प्रणाम करना चाहिए ।

स्मरण—

× स्तनन्धयानां स्तनदुग्धपाने मधुव्रतानां मकरन्दपाने ।
दाने दयालोरथ भक्तगाने पश्यामि मूर्तिं करुणामयीं ते ८४

स्मरण—

जीव-जगत् को परमात्मा की विभति, परमात्मा की जीवन्त मूर्तिरूप में अनुभव करने की कोशिश करना चाहिऐ।

(८४) स्तनन्धयानां स्तनदुग्धपाने (शिशु जब माता का स्तन पान करता है) मधुव्रतानां मकरन्दपाने (भ्रमर जब फूल का मधु पान करता है) दाने दयालो: (दयालु जब दान करता है) अथ भक्तगाने (भक्त जब गाना गाता है) ते करुणामयीं मूर्तिं पश्यामि (तब हे परमात्मा तुम्हारी करुणामयी मूर्ति का इन सबमें दर्शन करता हूँ)।

लीलाः शिशूनां गृहचत्वरेषु
गवां प्रचारेषु च वत्सलीलाः।
जले च पश्यन् जलपक्षिलीलाः
स्मरामि लीलामयविग्रहं त्वाम् ॥८५॥

(८५) गृहचत्वरेषु (आँगन में) शिशूनां लीला: (बालकों का खेल) गवां प्रचारेषु वत्सलीला: च (चरागाह के मैदान में बछड़ों का खेल) जले च जलपक्षिलीला: पश्यन् (जल में मुर्गाबी का खेल देखकर) लीलामयविग्रहं त्वां स्मरामि (हे लीलामय मैं तुम्हारी प्रकट लीला का दर्शन करता हूँ)।

×वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा।
यत्रैव चित्ते समुदेति भक्तिस्तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्तिम्॥८६॥

(८६) वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा (वनस्पति, पहाड़ और झरने में) कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा (समुद्र के किनारे व नदी के तट में) यत्रैव चित्ते भक्ति: समुदेति (जहाँ चित्त में भक्ति पैदा होती है) तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्तिं (वहीं अपने चित्त में तुम्हारी मूर्ति का मैं दर्शन करता हूँ)।

अर्थात् चित्त शुद्ध और शान्त होने से सब घट-घट में परमात्मा का दर्शन मिलता है।

प्रार्थना—

×× न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनि भवतात् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥८७॥

प्रार्थना—

तुमको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता हूँ। तुम जीव का कल्याण चाहते हो। इसीलिए मुझमें भी जीव का कल्याण करने की प्रवृत्ति रहे, अर्थात् तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जावे।

(८७) जगदीश (हे जगदीश)! न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा कामये (मैं तुमसे धन, जन, सुन्दरी स्त्री, कविता-शक्ति नहीं माँगता हूँ) मम जन्मनि जन्मनि (मेरे जन्म जन्म में) त्वयि अहैतुकी भक्तिः भवतात् (तुम्हारे ऊपर मेरी अचल अहैतुकी भक्ति बनी रहे)।

अर्थात् परमात्मा के ऊपर अचला अहैतुकी भक्ति छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता हूँ।

न याचेऽहं राज्यं सकलजनकाम्यं सुविपुलं
न याचेऽहं स्वर्गं सकलजनसेव्यं सुखमयम्।
न याचेऽहं मोक्षं सकलजनलक्ष्यं सुविमलं
सदा याचे दास्यं सकलतपसां दुर्लभधनम् ॥८८॥

(८८) अहं (मैं) सकलजनकाम्यं (जिसको संसार का हर एक आदमी चाहता है) सुविपुलं राज्यं न याचे (बड़ा राज्य नहीं चाहता हूँ)। अहं (मैं) सकलजनसेव्यं सुखमयं स्वर्गं न याचे (सुखमय स्वर्ग भी नहीं चाहता हूँ कि जिसके लिये सब मनुष्य मात्र कोशिश कर रहे हैं)। अहं सकलजनलक्ष्यं सुविमलं शान्तिं न याचे (मैं निर्मल शान्ति भी नहीं चाहता हूँ कि जिसके लिये सब मनुष्यों की दिली चाहना है)। सकलतपसां दुर्लभधनं (जो पद बहुत तपस्या से भी नहीं मिलता है) ते दास्यं (उस दास्यभाव को) सदा याचे (सदा मैं चाहता हूँ)।

अर्थात् मैं तुम्हारी सेवा के अलावा राज्य, स्वर्ग, शान्ति भी नहीं चाहता हूँ।

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥ ८९॥

(८९) नाथ येषु येषु योनिसहस्रेषु अहं व्रजामि (हे नाथ ! मैं जितनी भी हजारों योनियों में भ्रमण करूँ) हे अच्युत! तेषुतेषुत्वयि अचला भक्तिः सदा अस्तु (उन सब जन्मों में हे अच्युत ! तुम्हारे ऊपर मेरी अचला भक्ति बनी रहे)।

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ ९०॥

(९०) अविवेकिनां विषयेषु या अनपायिनी प्रीतिः (अविवेकी जन को जिस प्रकार विषय के ऊपर प्रेम लगा रहता है) त्वां अनुस्मरतः मे (तुमको मुझ स्मरण करनेवाले के) हृदयात् (हृदय से) सा (वह प्रीति) मा अपसर्पतु (कभी नहीं हटना चाहिए)।

अर्थात् विषयी के चित्त में जैसे विषय की चिन्ता सदा बनी रहती है मेरे चित्त में वैसे ही सदा तुम्हारी चिन्ता बनी रहे।

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥९१॥

(९१) भगवन् (हे परमात्मा) ! धर्मे न आस्था (मुझे धर्म की इच्छा नहीं है) न वसुनिचये (धन की भी इच्छा मुझमें नहीं है) कामोपभोगे न एव (भोग करने की इच्छा भी नहीं है) पूर्वकर्मानुरूपं (पूर्व कर्म के अनुकूल) यद् भाव्यं तद् भवतु (जो होनहार है उसको होने दीजिए) मम बहुमतं एतत्

ार्थ्यं (मेरे सारे ज्ञान-बुद्धि के अनुसार यही एक मात्र प्रार्थना है कि) जन्म-
न्मान्तरे अपि (जन्म-जन्म में) तत् पादाम्बुजरुहयुगगता निश्चला भक्तिःअस्तु
तुम्हारे चरणकमल में मेरी निश्चला भक्ति हो जावे) ।

अर्थात् मैं धन-दौलत नहीं चाहता हूँ, कर्मभोग से भी नहीं बचना चाहता
, मैं सिर्फ़ तुम्हारे चरणकमलों में अचला भक्ति चाहता हूँ ।

× ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥६२॥

(६२) देव सवितः (हे सूर्यनारायण ! हे सृष्टिकर्ता !) विश्वानि दुरितानि
ारासुव (दुनिया में जितने भी पाप हैं वह सब दूर हो जावें) यद्भद्रं नः तन्
प्रासुव (जो शुभ कल्याणकारी है वह सब हमारे पास आ जावे) ।

✓ ॐ असतो मा सद्गमय ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय
ॐ मृत्योर्मामृतं गमय । आविरावीर्म एधि ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥६३॥

(६३) असतः मा सद् गमय (असत् से मुझे सत् में ले चलो) तमसः
मा ज्योतिर्गमय (अन्धकार से मुझे रोशनी में ले चलो) मृत्योः मा अमृतं
गमय (मृत्यु से मुझे अमृत में ले चलो) आविः (हे स्वप्रकाश) ! आवीः
(बार-बार—अविच्छिन्न पूर्णरूप से) मे एधि (मेरे पास आ जाओ—प्रकाशित
हो जाओ) रुद्र (हे शासनकारी पाप से बचानेवाले) ! यत्ते दक्षिणं मुखं
(जो तुम्हारा वराभयप्रद प्रसन्न बदन) तेन मां पाहि नित्यं (उससे हमेशा
मेरी रक्षा करते रहो) ।

अर्थात् हे परमात्मा ! मुझे सत्य पथ में ले चलो, मेरी अज्ञानता को दूर करो,
मुझे अपने आनन्दधाम में ले चलो । वह शक्ति दान करो कि जिससे मुझको
कुपथ से बचाते वक़्त मैं तुम्हारी कृपा का अनुभव करूँ ।

×× ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः भद्रं चक्षुभिरवलोकयामः।
भद्रं मनोभिश्चिन्तयामः भद्रं बाहुभिः साधयामः॥ ६४ ॥

(६४) भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः (कानों से मंगलमय वाणी, तुम्हारी ही मोहन-वंशीध्वनि सुनने में आवे) भद्रं चक्षुभिः अवलोकयामः (आँखों से मंगलमय दृश्य—तुम्हारी ही रूपमाधुरी देखने में आवे) भद्रं मनोभिः चिन्तयामः (मन से जीवों की कल्याण-चिन्ता और तुम्हारा ही ध्यान स्मरण में आवे) भद्रं बाहुभिः साधयामः (हाथ से तुम्हारी सेवा, जीव का कल्याण करने की प्रवृत्ति होवे)।

अर्थात् हे प्रभो ! कृपा करके ऐसा करो कि जिससे मेरे कान सदा तुम्हारी वाणी सुनते रहें, मेरी आँखें सर्वत्र तुम्हारी रूपमाधुरी देखती रहें, मेरा मन तुम्हारे ही ध्यान में जीवों के कल्याणचिन्तन में मग्न रहे।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥६५॥

(६५) अहं राज्यं न कामये (हे नाथ ! मैं राज्य नहीं माँगता हूँ) न स्वर्गं (स्वर्ग भी नहीं माँगता हूँ) न अपुनर्भवं (मोक्ष भी नहीं माँगता हूँ) तु (परन्तु) दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम् (दुःखतप्त प्राणियों की तकलीफ़ दूर करना) कामये (चाहता हूँ)।

अर्थात् मैं अपने लिये सुख तथा धन-दौलत, मुक्ति भी नहीं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सब जीवों का दुःख दूर हो जावे।

×× सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥६६॥

(६६) अत्र सर्वे सुखिनः सन्तु (इस दुनिया में सब जीव आनन्द में रहें) सर्वे निरामयाः सन्तु (किसी को कोई बीमारी व तकलीफ़ न रहे) सर्व भद्राणि पश्यन्तु (सब कल्याण के तरफ़ नज़र रक्खें) मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् (किसी को कुछ भी दुःख न रहे)।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वः भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥६७॥

(६७) सर्वः दुर्गाणि तरतु (सब जीवों का दुःख से उद्धार हो जावे) सर्वः भद्राणि पश्यतु (सब जीव सर्वत्र मंगल देखते रहें) सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु (सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो जावे) सर्वः सर्वत्र नन्दतु (हर जगह पर हर एक आदमी आनन्द करता रहे) ।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत् ॥ ६८ ॥

(६८) दुर्जनः सज्जनो भूयात् (सब दुर्जन सज्जन हो जावें) सज्जनः शान्तिं आप्नुयात् (सज्जन शान्ति को प्राप्त हो जावें) शान्तः बन्धेभ्यो मुच्येत (शान्त बन्धनों से मुक्त हो जावें) मुक्तः च अन्यान् विमोचयेत् (खुद मुक्त होकर और सबको मुक्त करते रहें) ।

विसर्जन—

अन्तःप्रसुप्तस्य तवैव तत्त्वमिष्टे समारोप्य प्रबोधितं यत् ।
दृष्ट्वार्चनान्ते वपुषि स्वकीये विसर्जनात्प्राप्ततदात्मरूपः ।६९।

अन्तःप्रसुप्तस्य तव एव तत्त्वं (हे परमात्मा ! मेरे भीतर जो प्रसुप्त तुम्हारा स्वरूपतत्त्व है उसको) प्रबोधितम् एव (विचार और ध्यान से वह जाग्रत् हो गया है, अनुभव के योग्य हो गया है) इष्टे समारोप्य (उनको फिर मेरे इष्ट-विग्रह में आरोप करके) अर्चनान्ते दृष्ट्वा (ध्यान, जप आदि द्वारा इष्टमूर्ति में परमात्मा का दर्शन लाभ करने के बाद) स्वकीये वपुषि विसर्जनात् (अपने भीतर की ज्ञानगंगा में विसर्जन देकर, अर्थात् अपने भीतर हरएक तत्त्व में परमात्मा की स्थिति और लीलादर्शन करके) तदात्मरूपः प्राप्तः (मैंने अपने इष्टदेव के साथ तादात्म्यभाव लाभ कर लिया है) ।

अर्थात् सद्गुरु के वचन से परमात्मा का स्वरूप थोड़ा सा समझ में आया। वही भाव इष्टमूर्ति में आरोप किया। उनके उपदेश के अनुसार साधन करते करते इष्टमूर्ति के भीतर से परमात्मा का स्वरूप पूरे तौर पर समझ में आने लगा। फिर ध्यान में जब चित्त परमात्मा में मग्न होकर समाहित हो गया तब दर्शन में आया कि वह इष्टमूर्ति वह परमात्मभाव मेरे भीतर ही वर्तमान है। तब बाहर की मूर्ति भीतर की ज्ञानगंगा में विसर्जित मालूम होती है। इस विसर्जन के फल से साधक इष्टमूर्ति का स्वरूप बन जाता है। इष्ट के ध्यान से अपने भीतर इष्ट का दर्शन करके इष्ट के बराबर हो जाता है।

होम—

व्यष्टिं समारोप्य समष्टितत्त्वे विश्वस्वरूपं सुदृढीकृतं यत्।
तत्त्वानि सर्वाणि परात्मतत्त्वेसमर्प्य सिद्धं तव शुद्धतत्त्वम् १००

(१००) व्यष्टिं समष्टितत्त्वे (मेरे भीतर के व्यष्टितत्त्वों को जगद्व्यापी समष्टितत्त्व में) समारोप्य (आरोप करके, निवेदन करके) विश्वस्वरूपं यत् सुदृढीकृतं (विश्वरूप परमात्मा का समष्टिभूत विशिष्टाद्वैतरूप निश्चय किया गया) समग्रतत्त्वं (उन सब तत्त्वों को) परमात्मतत्त्वे समर्प्य (परमात्मतत्त्व में समर्पण करके) तव (तुम्हारा) शुद्धतत्त्वं (कैवल्यस्वरूप एकमेवाद्वितीय तत्त्व) सिद्धं (प्रमाणित हो गया)।

अर्थात् समष्टि दुनिया में जो तत्त्व वर्तमान हैं मेरे भीतर भी वह सब तत्त्व वर्तमान हैं। व्यष्टि समष्टि का अंश है, समष्टि का समधर्मी भी है। इसलिए अपने एक-एक तत्त्व को समष्टि के एक-एक तत्त्व में निवेदन करके (एक-एक तत्त्व के साथ मिलाकर) सारे तत्त्वों को (सारे जीव-जगत् को) एक ही परमात्मा का देह जानकर विशिष्टाद्वैत तत्त्व मालूम हो गया। फिर समष्टिगत नीचे के एक एक तत्त्व को ऊपर के एक-एक तत्त्व में निवेदन करके एकमेवाद्वितीयं रूप शुद्ध अद्वैत तत्त्व को आस्वाद कर लिया।

ॐ अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्।

ॐ प्राणमयाय स्वाहा एषः प्राणः।

ॐ मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः।

ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा एतद्विज्ञानम्।

ॐ आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः।

ॐ परमात्मने स्वाहा एष आत्मा ॥ १०१॥

(१०१) इदम् अन्नम् अन्नमयाय स्वाहा (अपने व्यष्टि अन्नमय को समष्टि अन्नमय में आहुति देता हूँ)। एषः प्राणः प्राणमयाय स्वाहा (अपने प्राणमय को सर्वव्यापक प्राण में आहुति देता हूँ)। एतत् मनः मनोमयाय स्वाहा (अपने मन को समष्टि मन में आहुति देता हूँ)। एतद् विज्ञानं विज्ञानमयाय स्वाहा (अपने विज्ञानमय कोष को सर्वव्यापी विज्ञानमय कोष में आहुति देता हूँ) एषः आनन्दः आनन्दमयाय स्वाहा (अपने आनन्दमय कोष को सर्वव्यापी आनन्दमय कोष में आहुति देता हूँ)। एषः आत्मा परमात्मने स्वाहा (अपनी आत्मा को सर्वव्यापी आत्मा में आहुति देता हूँ)।

अर्थात् अपने व्यष्टि सब तत्त्वों को समष्टि तत्त्व में निवेदन करके मैंने अपनी सत्ता को व्यापक कर लिया। अब रह गया सिर्फ एक परमात्मा और उनका जीव-जगत्-रूपी देह। आस्वाद हो गई विशिष्टाद्वैत तत्त्व की अनुभूति।

ॐ प्राणमयाय स्वाहा। ॐ मनोमयाय स्वाहा।

ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा। ॐ आनन्दमयाय स्वाहा।

ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥१०२॥

(१०२) प्राणमयाय स्वाहा (अन्नमय को प्राणमय में आहुति देता हूँ)। मनोमयाय स्वाहा (फिर प्राणमय को मनोमय में आहुति देता हूँ)। विज्ञान-

मयाय स्वाहा (मनोमय को विज्ञानमय में आहुति देता हूँ)। आनन्दमयाय स्वाहा (विज्ञानमय को आनन्दमय में आहुतिं देता हूँ)। इदं सर्वं खलु ब्रह्म (सब आहुति देने के बाद रह गया सिर्फ़ एक मात्र अद्वितीय तत्त्व)।

अर्थात् अपने एक-एक तत्त्व को ऊपर के एक-एक तत्त्व में निवेदन करने के बाद रह गया एक अखण्ड ब्रह्मतत्त्व।

शान्तिः—

ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ १०३॥

शान्तिः—

भगवान् सर्वव्यापी हैं। उनको छोड़कर और कुछ भी या कोई भी नहीं है। सर्वत्र एक आनन्द ही आनन्द है। एक अनिर्वचनीय आनन्दसागर में हम डूबे हैं। आनन्द के प्रभाव से सब काम के भीतर से परमात्मा की इच्छा पूर्ण हो रही है, सब काम पूजा में परिणत हो रहे हैं।

(१०३) नौ (हम दोनों की यानी गुरु-शिष्य की) सह (एक साथ) अवतु (रक्षा हो जावे)। सहनौ भुनक्तु (दोनों को एक साथ पालन कीजिए) सहवीर्यं करवावहै (एक ही साथ तेज देते रहना) तेजस्विनौ अधीतं अस्तु (अधीत यानी पढ़ी हुई ब्रह्मविद्या दोनों के भीतर प्रकट हो जावे)। मा विद्विषावहै (दोनों के भीतर किसी क़िस्म की द्वेषबुद्धि नहीं रहे)।

अर्थात् हम सब एक ही साथ सब काम करना चाहते हैं। हममें कहीं भेद-बुद्धि नहीं रहना चाहिए।

ॐ मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्न सन्त्वोषधीः॥ ॐ मधुनक्तमुतोषसः।
ॐ मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

ॐ मधुमाँन्नो वनस्पतिः । ॐ मधुमाँअस्तु सूर्यः ।
ॐ माध्वीर्गावो भवन्तु नः । ॐ मधु मधु मधु ॥ १०४ ॥

(१०४) वातामधुऋतायते (वायु सब ऋतु में मधु वहन कर रही है) सिन्धवः मधु क्षरन्तु (सारी नदियाँ मधु क्षरण कर रही हैं) नः ओषधीः माध्वीः सन्तु (हमारी ओषधि, वनस्पति मधुमय हो जावें) मधु नक्तं (रात मधुमय हो जावे) उत उषसः (प्रभात भी मधुमय हो जावे)। मधुमत् पार्थिवं रजः (पृथ्वी का सारा रज यानी मिट्टी तक भी मधुमय हो जावे)। द्यौः मधु अस्तु (आसमान मधुमय हो जावे) नः पिता (हमारे पितृलोक मधुमय हो जावें) नः (हमारे) वनस्पतिः (वृक्ष, लतादि सब मधुमय हो जावें) सूर्यः मधुमान् अस्तु (सूर्य देव मधुमय हो जावें)। नः गावः माध्वीः भवन्तु (हमारी सारी गायें मधुमय हो जावें) ओं मधु, मधु, मधु (स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत् सब मधुमय हो जावें)।

अर्थात् परमात्मा आनन्दमय है, उनमें चित्त मग्न हो जाने से दुनिया आनन्दमय नज़र आती है।

× अहो निमग्नस्तवरूपसिन्धौ
पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम् ।
अवाक् च निस्पन्दतरोर्विमूढः
कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव ॥ १०५ ॥

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

(१०५) अहो (अहा) तव रूपसिन्धौ (तुम्हारे रूपसागर में) निमग्नः (मैं डूबा हुआ हूँ) न अन्तं मध्यं न आदिं च पश्यामि (मैं इसका आदि, मध्य या अन्त कुछ भी नहीं देख रहा हूँ)। देव (हे लीलामय परमात्मा) ! निस्पन्दतरोः (स्थिर पेड़की तरह) अवाक् विमूढः च (निर्वाक् और बेहोश

होकर) कुत्रास्मि (मैं कहाँ हूँ) को अस्मि इति (मैं कौन हूँ इत्यादि) न वेद्मि (मैं नहीं जानता हूँ) ।

अर्थात् तुम्हारे रूपसागर में डूबकर मैं आनन्द में विभोर हो गया ।

प्रातःकाल उठते ही बिछौने पर ही पूजा ।

विष्णुस्मरण—(१ श्लोक)

इष्टमन्त्रजप—

प्रातःस्मरणीय—(७ श्लोक)

कृतज्ञताप्रकाश—(१५ श्लोक)

प्रार्थना—(७-११, १०५ श्लोक)

कर्त्तव्य अवधारण—

भ्रमण के वक्त पूजा ।

इष्टमन्त्रजप—

धामतत्त्व—२२ श्लोक । प्रार्थना—सबेरे—पूर्व गोष्ठ का अनुकूल ८।१०।११ श्लोक। वैकाले-(सायंकाले)—उत्तर गोष्ठ का अनुकूल १२। १३ श्लोक। स्तवः—श्रीमूर्ति-दर्शन स्तव (क)। ब्रह्मानुभूतिः—सत्य-प्राण-आनन्द-प्रतिष्ठा।

स्नान के वक्त पूजा ।

विष्णुस्मरण—१ श्लोक।

साधनश्लोकपाठ—१६। १७ श्लोक।

देहश्रीभगवन्मन्दिर—

आत्मेन्द्रियसमायुक्तं देहं श्रीहरि-मन्दिरम् ।
स्नानेन शोधनं तस्य विधेहि कृपया तव ॥ १०६ ॥

स्नान के वक्त पूजा—

(१०६) आत्मेन्द्रियसमायुक्तं देहं (आत्मा इन्द्रिय आदि के मिलने से जो शरीर बना है) श्रीहरिमन्दिरं (वह परमात्मा का मन्दिरस्वरूप है) तव कृपया (तुम्हारी कृपा से) स्नानेन (स्नान द्वारा) तस्य शोधनं (उसकी शुद्धि) विधेहि (विधान करने के योग्य है) ।

अर्थात् हे परमात्मा ! मैं पानी से शरीर को धो सकता हूँ लेकिन मन के पास पानी नहीं जाता । इसलिए तुम कृपा करके उसको शुद्ध कर दो ।

शुद्धि—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्तु मनः सत्येन शुध्यतु ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यतु ॥ १०७ ॥

(१०७) गात्राणि अद्भिः (जल से शरीर) शुद्धयन्तु (शुद्ध हो जावे) मनः सत्येन शुद्धयतु (सत्य चिन्तन से मन शोधित हो जावे) भूतात्मा विद्यातपोभ्यां (भूतात्मा विद्या और तपस्या से) बुद्धिः ज्ञानेन शुद्धयतु (बुद्धि पराज्ञान से शुद्ध हो जावे) ।

अर्थात् जल से स्थूल देह, साधु चिन्ता से मन, ज्ञान व तपस्या से भूतात्मा और विचार से बुद्धि शुद्ध हो जावे ।

√ तर्पण—

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः ।

मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम् ॥ १०८ ॥

तर्पण

(१०८) आब्रह्मभुवनात् (ब्रह्म से लेकर सारी दुनिया तक) लोकाः (जीव-समूह) देवर्षिपितृमानवाः (देवता ऋषि पितृ लोग और सारे मनुष्य) भुवन-त्रयम् (तीनों लोक के सब) मयादत्तेन तोयेन (मैं जो पानी देता हूँ उससे) तृप्यन्तु (तृप्त हो जावें) ।

अर्थात् मैं प्रार्थना करता हूँ कि तीनों लोक के सब जीवों को शान्ति मिल जावे ।

शान्ति—९६ श्लोक ।

भोजन के समय पूजा ।

विष्णुस्मरण—१ श्लोक ।

कृतज्ञताप्रकाश—१५ श्लोक ।

अन्नशोधन—

एतदन्नादिकं सर्व्वमच्छिद्रमस्तु ॥ १०९ ॥

भोजन के समय पूजा—

(१०९) एतत् सर्वं अन्नादिकं (यह सब अन्न) अच्छिद्रं अस्तु (दोष से रहित हो जावें) ।

अर्थात् पहले देखना चाहिए कि अन्न आदि परमात्मा को निवेदन करने के योग्य हैं या नहीं । योग्य होवें तो परमात्मा का नाम-स्मरण करके उसको और भी पवित्र करना चाहिए ।

अन्न-अर्पण—

एतदन्नादिकं सर्व्वं ॐ ब्रह्मार्पणमस्तु ॥ ११० ॥

(११०) एतत् अन्नादिकं सर्वं (यह अन्नादि) ॐ ब्रह्मार्पणं अस्तु (पर-ब्रह्म में अर्पित हो जावे) ।

अर्थात् भोजन से मतलब सिर्फ़ पेट भरना और इन्द्रिय की तृप्ति नहीं है, बल्कि उससे भीतर के सब देवता और परमात्मा की तृप्ति भी हो जावे।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्म समाधिना ॥ १११ ॥

(१११) अर्पणं ब्रह्म (अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है) हविः ब्रह्म (अर्पण की सामग्री घृत आदि भी ब्रह्म है) ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् (जिसमें हवन करता हूँ वह अग्नि और जो हवन करनेवाला है वह भी ब्रह्म है) ब्रह्मकर्म समाधिना तेन ब्रह्मैव गन्तव्यम् (इस ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठान द्वारा हवन करनेवाले को भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है)।

अर्थात् एक अखण्ड परमात्मा ने लीला के लिए अपने आपको कर्त्ता, कर्म, करण, भोक्ता, भोज्य, भोजन, ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान आदि रूप में विभक्त किया है, इसलिए हमारे लेन-देन की चीज़, लेन-देने का काम और लेन-देन का कर्त्ता उनके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। भोजन करने के वक्त विचार करना चाहिए कि भोजन के विषय में मेरा कुछ भी इख़्तियार नहीं है। परमात्मा ही मेरे भीतर बैठकर अपनी चीज़ आप भोजन कर रहा है।

बलिरक्षण—

भोजन—

प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा,
उदानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा ॥ ११२ ॥

(११२) प्राणाय स्वाहा इत्यादि (मेरे दिये हुए अन्नादि से प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान नामक पंचवायु की तृप्ति हो जावे)।

अर्थात् एक ही प्राणशक्ति मेरे देह के विभिन्न तत्त्वों में और विभिन्न यन्त्रों में अधिष्ठित रहकर मेरा देह धारण करने के सारे काम निर्वाह कर रही है। जो कुछ हम खाते हैं उसको पेट के अन्दर पकाना, जो हज़म नहीं होता है

उसको मालरूप से निकालना, जो सार अंश है उसको खून बनाकर, जहाँ पर जितनी ज़रूरत है पहुँचाना, सारे शरीर को सब काम के लायक़ बनाना, और शरीर छोड़ने के वक़् सूक्ष्म शरीर लेकर अपने कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर में ले जाना, एक ही प्राणवायु की विभिन्न विभूतियाँ हैं।

नमस्कार—

योऽयं देवोऽन्तरे तिष्ठन् पचत्यन्नं चतुर्व्विधम्।
येन दत्तमिदं सर्व्वं तस्मै परात्मने नमः॥ ११३॥

(११३) यः अयं देवः (यह जो देवता) अन्तरे तिष्ठन् (हमारे भीतर रहकर) चतुर्विधम् अन्नं पचति (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय आदि चतुर्विध अन्न को परिपाक कर देता है) येन सर्वं इदं दत्तं (और जो यह सब अन्नादि हमको देता है) तस्मै परात्मने नमः (उस परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं)।

काम के वक़् पूजा (कार्य्यक्षेत्रे पूजा)

कार्य्यरहस्यचिन्तन—१०, ११, ५७ श्लोक।

इष्टमंत्रजप—कृतज्ञताप्रकाश—१५

ॐ देवो वा सविता प्रार्थयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे॥ ११४॥

काम के वक़्त पूजा—

(११४) श्रेष्ठतमाय कर्मणे (सर्वश्रेष्ठ कर्म करने के लिए) देवः वा सविता प्रार्थयतु (सवितादेवता से प्रार्थना करना चाहिए)।

अर्थात् परमात्मा अपनी शक्ति यानी भर्गदेवता से हमको सब काम के लायक़ बनाता है। मुझे हर वक़् तैयार रहना चाहिए, ताकि वही शक्ति हमारे भीतर से बिला रुकावट के परमात्मा का काम कर सके। इसीलिए भर्गदेव से यही प्रार्थना करनी चाहिए।

तत् कर्म्मकृत् तत् परमः तद्भक्तः संगवर्ज्जितः ।
निर्व्वैरः सर्व्वभूतेषु परात्मनि समाहितः ॥ ११५ ॥

(११५) तत् कर्मकृत् (जो परमात्मा का ही काम करते रहते हैं) तत् परमः (जो सिवा परमात्मा के और कुछ नहीं चाहते) तद्भक्तः (भगवत्-तृप्ति ही जिनका एकमात्र साधन है) संग वर्जितः (देह में और देह के भोग्य विषय में जिनकी बिलकुल आसक्ति नहीं है) परमात्मनि समाहितः (जो परमात्मा के ध्यान में बिलकुल लीन रहते हैं वही मेरे भक्त हैं) ।

अर्थात् अनासक्त फलाकांक्षा से रहित अनन्य शरण होकर परमात्मा की ही खुशी के लिए काम करना चाहिए ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वानुसृतेः स्वभावात् ।
करोमि यत् यत् सकलं परस्मै नारायणायैव समर्पयामि ११६

(११६) कायेन (शरीर से) वाचा (वचन से) मनसा (मन से) वा इन्द्रियैः (अपनी इन्द्रियों से) बुद्धया (बुद्धि से) आत्मनः (अपनी खुशी से) अनुसृतेः स्वभावात् (पूर्वजन्म के संस्कारों से चालित होकर) यत् यत् करोमि (मैं जो कुछ करता हूँ) सकलं (वह सब) परस्मै नारायणाय समर्पयामि (सर्वभूत का आश्रयस्वरूप जो नारायण हैं उनके पास समर्पण करता हूँ) ।

अर्थात् मैं शरीर से, वचन से, मन से जो कुछ काम करता हूँ वह सब परमात्मा के अनुमोदित होना चाहिए और उनकी खुशी के लिए ही होना चाहिए ।

इतः पूर्व्वं प्राणबुद्धिदेहधर्म्माधिकारतो जाग्रतस्वप्न-
प्रसुप्तावस्थासु मनसा वाचा हस्तपद्भ्यामुदरेण शिश्ना
यत् यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत् सर्व्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ११७

(११७) इतः पूर्वं (इससे पहले) प्राणबुद्धिदेहधर्मादि कारतः (प्राण बुद्धि देह धर्मादि के अनुसार) जाग्रतस्वप्नप्रसुप्तावस्थासु (जाग्रत, स्वप्न

प्रसुप्त अवस्था में) मनसा वाचा हस्तपद्भ्यामुदरेण शिश्ना (मन, वचन, हाथ, पाँव, पेट और लिंग से) यत् यत् स्मृतं उक्तं कृतं (जो कुछ सोचा है, कहा है, किया है) तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा (वह सब परमात्मा में अर्पित हो जावे) ।

अर्थात् हमारी इन्द्रिय आदि से जो कुछ परमात्मा कराना चाहता है उसको छोड़कर और कुछ काम नहीं करें और उनकी इच्छा पूर्ण करने में व उनकी खुशी करने में लगी रहें । काम करने से पहले सोचना चाहिए कि परमात्मा हमसे क्या चाहता है और किस तरह पर काम करने से हमारा काम परमात्मा की पूजा हो सकता है ।

शयन के वक्त पूजा ।

क्षमाप्रार्थना—

अंहोभिरेतं मलिनं स्वकायं
लीलानिकेतं व्यदधां नु भूमन् ।
विमृज्य दोषान् नय मां समीपं
मम त्वदन्यः कुह*विद्यतेऽस्मिन् ॥ ११८ ॥

शयन के वक्त पूजा—

(११८) एतं स्वकायं (मेरा यह शरीर) लीलानिकेतं व्यदधां (जिसको तुमने अपनी लीला के लिए सृष्ट किया है) अंहोभिः मलिनं (उसको मैंने अपने अहंकार से मलिन किया है) दोषान् विमृज्य (हमारे सारे अपराधों को क्षमा करके सब मलिनता दूर करके) मां समीपं नय (मुझे अपने पास बुला लो) त्वत् अन्यः (सिवाय तुम्हारे) मम (मेरा) अस्मिन् कुह विद्यते (इस दुनिया में और कोई नहीं है) ।

---

* कुह कोऽत्र (किम्शब्दात् निपातेन सिद्धः) ।

अर्थात् हे नाथ ! मेरा और कोई नहीं है, मैंने अपने इस शरीर को जो कि तुम्हारी लीला का यन्त्र है, अहंकार से मलिन किया है, अब कृपा करके तुम उसको शुद्ध करके अपने पास बुला लो ।

शब्दादिभोगान् परिमुच्य हूति-
र्विकृष्य तेभ्यो नु यथा प्रपन्नम् ।
मामाशु कृत्वा नय ते सकाशं
संमोह्य ते प्रेष्ठ तथा विधत्तात् ॥११६॥

(११६) हूतिः (तुम्हारी पुकार) शब्दादिभोगान् परिमुच्य (शब्द स्पर्श आदि भोग्य वस्तु से मेरे चित्त को ज़ोर से खींचकर) तेभ्यः विकृष्य (उन सबकी तरफ़ से चित्त हटाकर) यथा प्रपन्नं मां (जिस तरह से तुम्हारी शरण लिये हुए मुझे) आशु कृत्वा सकाशं नय ते (जल्दी तुम्हारे पास ले जाता है) प्रेष्ठ (हे प्राणाराम) संमोह्य तथा विधत्तात् (ऐसा करो कि तुम्हारे प्रेम में मग्न हो जाऊँ) ।

अर्थात् तुम्हारा आह्वान मुझको पागल करके इतना तुम्हारे पास ले आया है कि संसार की तरफ़ चित्त जाता ही नहीं है। अब कृपा करके मुझे जल्दी अपने प्रेम-सागर में डुबाकर रखो।

भो अन्तरात्मन्नहवीक्षमाणो
मायास्वलीलां मतिविभ्रमात्ते ।
आदेशवाणीरवमत्य नूनं
कियन्ति पापानि ततान भूमौ ॥ १२०॥

(१२०)भो अन्तरात्मन् (हे मेरे अन्तरात्मा) अह ते माया (आश्चर्य तुम्हारी माया है) मतिविभ्रमात् (बुद्धि बिगड़ जाने के कारण) ते स्वलीला ईक्षमाणः (तुम्हारी लीला देखते-देखते) नूनं आदेशवाणीः अवमत्य (तुम्हारे हुकुम की

तामील न करके) भूमौ (दुनिया में) कियन्ति पापानि ततान (पापों का कितना विस्तार कर दिया)।

अर्थात् हे परमात्मा ! धन्य तेरी माया, तेरी लीला देखते-देखते अपना स्वरूप भूलकर दुनिया में आकर कितने पाप किये।

कषायमुग्रं विनिहत्य तेजसा
क्लिष्टाश्च वृत्तीः प्रविधूय मे विभो।
वैगुण्यराशिं परिदह्य विश्रमो
यथा त्वदङ्के भवतात्तथा कुरु ॥ १२१ ॥

(१२१) मेरे भीतर जो कुछ बहुत भारी पाप है उसको अपने तेज और ज्योति से नाश करके, मेरी खराब प्रवृत्तियों को शुद्ध करके, और मेरे सारे पापों को दग्ध करके, हे सर्वव्यापी परमात्मा, ऐसा करो कि जिससे मैं तुम्हारी गोद में स्थान लाभ करूँ।

शक्तिहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्द्दन।
गृहीत्वा कृपया नाथ दासत्वं देहि मे प्रभो ॥१२२॥

(१२२) जनार्दन शक्तिहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं मां (हे जनार्दन, शक्तिहीन, क्रियाहीन, भक्तिहीन मुझको) कृपया गृहीत्वा (दयापूर्वक ग्रहण करके) हे नाथ (हे प्रभो)! मे (मुझको) दासत्वं देहि (सेवा का अधिकार दे दो)।

अर्थात् मुझमें इतनी शक्ति या भक्ति नहीं है कि मैं तुम्हारी सेवा करने का अधिकार पाऊँ, लेकिन तुम मेरे स्वामी हो, मेरे वास्ते जो मुनासिब हो कर सकते हो, मुझे कृपा करके अपनी सेवा का अधिकार दो।

साधनश्लोकपाठ—१६। १७ श्लोक।

प्रार्थना—

वेणुनादं समाकर्ण्यात्रागतं हृतमानसम्।
विधाय प्रेमसम्पत्तिं लीनं त्वय्येव मां कुरु ॥१२३॥

प्रार्थना—

(१२३) वेणुनादं समाकर्ण्य (तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनकर) हृतमानसं अत्र आगतं (जिसका मन चुराकर तुमने अपने पास बुला लिया है उसको) प्रेमसम्पत्तिं विधाय (तुम अपनी प्रेम-सम्पत्ति दान करके) त्वय्येव मां लीनं कुरु (अपने में लय कर लो)।

अर्थात् तुमने मुझे बुलाया है अब मुझे ऐसा करो कि मैं अपने को भूलकर तुममें लीन हो जाऊँ।

प्रभो न शक्तिर्मम लेशतोऽस्ति ज्ञानं तथा प्रेम न चास्ति किंचित्।
येनोत्तमः श्लोकगुणानुवादान्
कृत्वाप्नुयां त्वां परमात्मभूतम् ॥१२४॥

(१२४) प्रभो (हे प्रभो)! मम लेशतः शक्तिः न अस्ति (मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है) ज्ञानं तथा प्रेम न किञ्चित् अस्ति (ज्ञान तथा प्रेम भी मुझमें बिलकुल नहीं है) येन (जिससे) उत्तमश्लोकगुणानुवादान् कृत्वा (मैं तुम्हारा गुणानुवाद करके कि जिसकी महिमा वेद उपनिषद् भी प्रकाश नहीं कर सके हैं) परमात्मभूतं त्वां आप्नुयां (परमात्मस्वरूप जो तुम हो उसको मैं प्राप्त हो जाऊँ)।

अर्थात् मुझमें विद्या-बुद्धि कुछ भी नहीं है, मुझे दया करके अपने गुण-गान करने की शक्ति दे दो।

हूतस्तयाहं तत आगतोऽस्मि प्रेमामृताब्धौ विनिमज्य बोधय।
अन्तर्मम त्वं प्रतितत्त्वमीशतनोषि लीला इहमातुतायाः॥१२५

(१२५) अहं त्वया हूतः (मैं तुम्हारे आह्वान से आकृष्ट हूँ) अतः

❀ मा=मां, तु=अवधारणे, ताः याः=पूर्वोक्ताः लीलाः (याः लीलाः तु तनोषि ताः माम् बोधय)।

आगतः अस्मि (इसलिए तुम्हारे पास आया हूँ) प्रेमामृताब्धौ (तुम्हारे प्रेम-सागर में) विनिमज्य (मुझे डुबाकर) ईश (हे जगदीश) ! त्वं (तुम) मम अन्तः प्रतितत्त्वं (मेरे भीतर के हरएक तत्त्व में विराजित होकर) याः लीलाः तु इह तनोषि (तुमने जो लीला मेरे भीतर विस्तार की है) बोधय (वह मुझे समझा दो) ।

अर्थात् तुमने जोर से मुझे अपने पास बुलाया है, अब मुझे अपने प्रेम में डुबाकर अपनी लीला-रस आस्वादन करने की सामर्थ्य दे दो ।

अनात्मना ते न हि तृप्तिरस्ति त्वमात्मनात्मानमवेद्य तृप्तः
मामात्मभावं नयसे न यावत्तृप्तिः कुतस्ते भवितेह तावत् १२६

कृतज्ञताप्रकाश—१५ श्लोक ।

आत्मनिवेदन—६१ श्लोक ।

जप—

मिलनानन्दअनुभूति—१०५ श्लोक ॥

(१२६) अनात्मना (मुझे आत्मज्ञान प्राप्त होने से पहले) ते तृप्तिः न हि अस्ति (तुम्हारी तृप्ति नहीं हो सकती) त्वं आत्मना आत्मानं अवेद्य (तुम मेरे भीतर से पूरे तौर पर प्रकट होकर, अपना दर्शन अपने आप करके) तृप्तः (तृप्ति पाते हो) मां आत्मभावं यावत् न नयसे (जब तक मुझे अपने भाव से परिभावित न कर लो) तावत् (तब तक) कुतः इह (कैसे इस संसार में) ते तृप्तिः भवेत् (तुम्हारी तृप्ति होगी) ।

अर्थात् तुमने अपने आपको आस्वाद करने के वास्ते जीव-जगत् सृष्ट किया है इसलिए जब तक मुझे पूर्ण परिणत करके मेरे भीतर तुम अपना स्वरूप-दर्शन न करोगे तब तक तुम्हारी तृप्ति नहीं हो सकती । मैं भी तुमको खुश करने के लिए कोशिश करता हूँ । तुम दया करके जैसा चाहो मुझे बनाकर खुद खुश होकर मुझे खुश करो ।

प्रकाशक—पं० कैलाशनाथ भट्ट

स्तव (क)

श्रीमूर्तिदर्शन—

वासन्तचूतमुकुलेष्वलिझङ्कृतेषु
कुञ्जेषु मञ्जुकलकोकिलकूजितेषु।
सम्पूर्णशारदसुधाकरमण्डलेषु
सौन्दर्यसागर हरे तव मूर्तिमीक्षे ॥ १ ॥

श्रीमूर्तिदर्शनस्तव (क)

(१) हे अनन्तसौंदर्यरत्नाकर! हे हरे! मैं भ्रमर-गुंजन-मुखरित बसन्त के आम्रवृक्षों की नवमञ्जरी में कल-कोकिल-कूजित कुंजों में और शरद् ऋतु के पूर्ण सुधाकर के मण्डल में तुम्हारी अलौकिक मूर्ति का दर्शन करता हूँ।

प्रफुल्लपद्मेषु सरोवरेषु
ताराविचित्रेषु नभःस्थलेषु।
मातुः स्तने कारुणिकस्य चित्ते
गोविन्द पश्यामि तवैव मूर्तिम् ॥ २ ॥

(२) हे गोविन्द! विकसित कमल-शोभित सरोवरों में, उज्ज्वल तारकावलि-शोभित नभस्थल में, प्रेम-करुणा-निर्झर-मातृ-स्तनों में और करुणा के भार से झुके हुए दीनवत्सल के हृदय में मैं तुम्हारी मूर्ति का दर्शन करता हूँ।

विचित्रपुष्पासु वनस्थलीषु
सुगन्धमन्दानिलवीजितासु ।
विहङ्गसङ्गीतनिनादितासु
गोविन्द पश्यामि तवैव मूर्तिम् ॥ ३ ॥

(३) हे गोविन्द ! विचित्र पुष्पों से परिपूर्ण, शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन के झकोरों से कम्पायमान तथा पक्षियों के मधुर कलरव से शब्दायमान बनस्थलियों में मैं तुम्हारी अलौकिक मूर्ति का दर्शन करता हूँ ।

शिखण्डिकेका नवमेघशब्दे
भेकालिकण्ठाश्च नवाम्बुपाते ।
झिल्लीरवाः सुप्तजने निशीथे
उद्बोधयन्त्यङ्ग तवैव मूर्तिम् ॥ ४ ॥

(४) हे भगवन् ! जब उन्मत्त मयूर नवमेघ-ध्वनि को सुनकर सहर्ष आनन्द मनाते हैं, जब नवीन वर्षा के शुभागमन में मेढकों का समूह कोलाहल करता है और जब निस्तब्ध अर्धरात्रि में झींगुर अपना शब्द करते हैं, उस समय हे सौन्दर्यसागर ! तुम्हारी अलौकिक विशाल मूर्ति मेरे हृदय में प्रकट हो जाती है ।

माणिक्यखण्डैरिव दीप्यमानैः खद्योतपुञ्जैर्निचितानगण्यैः ।
बहुद्रुमान् वीक्ष्य घनान्धकारे स्मरामि ते मूर्त्तिमपूर्तिरूपाम् ॥ ५ ॥

(५) हे अपूर्वरूप परमात्मन् ! बहुत घने अन्धकार में, मणि-माणिक्यों की भाँति प्रकाशमान, असंख्य खद्योतों से समलंकृत वृक्षसमूहों को देखकर तुम्हारी रूपमाधुरी मेरे हृदय में उत्पन्न हो जाती है ।

प्रत्यग्रसिन्दूररसैरिवार्द्रे बालातपैर्विच्छुरितेऽन्तरिक्षे ।
पश्यामि सन्ध्याम्बुदविभ्रमेषु प्रेमाभिरामां तव कृष्णमूर्तिम् ६॥

(६) हे कृष्ण ! प्रत्येक अग्रभाग में सिंदूर गेरुआ आदि रसों से युक्त पर्वत की भाँति, बालार्क (प्रातःकाल के सूर्य) से रंजित आकाश में जब कि हम संध्या समय की मेघछटा का दर्शन करते हैं, उस समय तुम्हारी प्रेम-सुन्दर कृष्णमूर्ति दृष्टिगोचर होती है ।

उद्भिन्नगारुत्मतसुप्रकाशैः क्षेत्रेषु कीर्णेषु नवीनशस्यैः ।
स्निग्धेषु पश्यामि च पल्लवेषु विश्वाभिरामं तव कृष्ण रूपम् ७

(७) हे विश्वमूर्ते ! खिली हुई मरकतमणि की भाँति प्रकाशमान नवीन धान के पौधों से युक्त खेतों में और स्निग्ध पल्लवों में मैं तुम्हारी नयनाभिराम मूर्ति को देखता हूँ ।

कङ्कालमालाबहुलेऽतिरौद्रे श्मशानदेशे शवधूमधूम्रे ।
प्रचण्डवातक्षुभितेऽर्णवे च प्रेक्षे महारुद्र तवैव मूर्तिम् ॥८॥

(८) हे महारुद्र ! अनेक कंकालमालाओं की बहुलता से युक्त, अति भयानक श्मशानप्रदेश में और प्रचण्ड वायुविलोडित समुद्र में तुम्हारी रौद्र मूर्ति का मैं दर्शन करता हूँ ।

गाढान्धकारासु कुहुक्षपासु दिग्व्यापिघोराभ्रघटासु चैव ।
दम्भोलिभीमध्वनितेषु वीक्षे महाविराजस्य तवैव मूर्तिम् ६॥

(६) अमावस्या के दिन घोर अँधेरी रात में जब घनघोर घटा छाई होती है और बारम्बार बिजली की कड़क सुनाई देती है तो हे राजाधिराज ! हे महादेव ! मैं तुम्हारी भीषण मूर्ति का दर्शन करता हूँ ।

शशाङ्कताराप्रतिबिम्बगर्भान्
तोयाशयान् स्वच्छजलान् समीक्ष्य ।
उदेति चित्ते तव कापि मूर्ति-
रनन्त वैचित्रमयी मुकुन्द ॥१०॥

(१०) हे मुकुन्द ! निर्मल जल से युक्त बड़ी झील में, चन्द्र-तारों के प्रतिबिम्ब को देखकर, हे भक्ति-मुक्तिदाता ! तुम्हारी विचित्र मूर्ति मेरे अन्तः-करण में प्रकट हो जाती है ।

पुण्यानि तीर्थानि तपोवनानि
दृष्ट्वा सरित्सागरसङ्गमांश्च ।
नामावशेषांश्च पुराणदेशान्
पुरातनं त्वं पुरुषं स्मरामि ॥ ११॥

(११) पुण्यतीर्थ, पवित्र तपोवन, सरिता - सागर - संगम, पुराणप्रसिद्ध नाममात्र अवस्थित पुण्यदेश का दर्शन करके, हे चिरपुरातन पुरुष ! मैं तुमको स्मरण करता हूँ ।

लीलाः शिशूनां गृहचत्वरेषु
गवां प्रचारेषु च वत्सलीलाः ।
जले च पश्यन् जलपक्षिलीलाः
स्मरामि लीलामयविग्रहं त्वाम् ॥ १२ ॥

(१२) हे लीलामय भगवन् ! गृह-आँगन में बच्चों का खेल, चरागाहों में गोवत्स-लीला और जलाशयों में जलपक्षी की लीला का दर्शन करके तुम्हारा लीला-विग्रह मेरे स्मरण में आ जाता है ।

स्तनन्धयानां स्तनदुग्धपाने
मधुव्रतानां मकरन्दपाने।
दाने दयालोरथ भक्तगाने
पश्यामि मूर्तिं करुणामयीं ते ॥१३॥

(१३) हे करुणाकर भगवन्! दूध पीनेवाले बच्चे को मातृस्तन पान करते देखकर, शहद की मक्खी को पुष्पों का मकरन्द पान करते देखकर, पर-दुःखकातर दयालु को गरीबों का दुख हरते हुए देखकर और प्रेमी भक्तों को चित्त से ईश्वर का भजन करते हुए देखकर मैं तुम्हारी करुणामयी मूर्ति का दर्शन करता हूँ।

सतीषु नारीषु च सर्वभूत-
प्रकामसन्तर्पणदीक्षितासु।
पूर्णान्नपूर्णास्विव लक्षयेऽहं
मूर्तिं हरे सत्त्वमयीं तवैव ॥१४॥

(१४) हे सत्यमूर्ति भगवन्! जिन स्त्रियों के जीवन का व्रत दूसरों की सेवा करना है, उनको जीवों को अन्न बाँटते देखकर तुम्हारी सत्यमयी मूर्ति का मैं दर्शन करता हूँ।

वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा
कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा
यत्रैव चित्ते समुदेति भक्ति-
स्तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्तिम् ॥१५॥

(१५) हे विश्वमूर्ते ! वनस्पति, पर्वत, निर्झर, समुद्र-तट, नदी-तट को देखकर मेरे चित्त में तुम्हारे ऊपर भक्ति पैदा होती है, उसी में मैं तुम्हारी मूर्ति का दर्शन करता हूँ।

कीटे पतङ्गे च सरीसृपे च
मीने पशौ पक्षिणि मानवे च।
स्थूले च सूक्ष्मे च जले स्थले खे
पश्यामि ते रूपमनन्तरूप ॥१६॥

(१६) हे विश्वरूप परमात्मन्! कीट में, पतंग में, रेंगनेवाले काड़ों में, मछली में, पशु में, मनुष्य में, स्थूल में, सूक्ष्म में, जल में, स्थल में, सर्वत्र ही मैं तुम्हारी मूर्ति का दर्शन करता हूँ।

भूतेषु सर्वेषु चराचरेषु
दूरे समीपे च पुरश्च पश्चात्।
विलोकयाम्यूर्ध्वमधश्च तिर्यक्
हे कृष्ण ते रूपमनन्तरूप ॥१७॥

(१७) हे कृष्ण ! चराचर में, सर्वभूत में, दूर और निकट, सम्मुख और पश्चात्, ऊपर, नीचे, अपने चारों ओर मैं तुम्हारा अनन्तरूप दर्शन करके मोहित हो गया।

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ
पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम् ।
अवाक् च निस्पन्दतरोर्विमूढः
कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव ॥१८॥

(१८) हे देव ! मैं तुम्हारे रूपसागर में डूब गया हूँ । मैं आदि, अंत, मध्य कुछ नहीं देख सकता हूँ । मेरे मुँह से वाक्य नहीं निकलता है । मैं बेवश, बेहोश हो गया हूँ । मैं कहाँ हूँ, कौन हूँ, कुछ भी मुझे स्मरण नहीं आता है।

नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्ते
नमस्ते नमस्ते हरेऽचिन्त्यशक्ते।
नमस्ते नमस्तेऽखिलाश्चर्यसिन्धो
महादेव शम्भो नमस्ते नमस्ते ॥१६॥

(१६) हे विश्वमूर्ते ! हे विभो ! तुमको प्रणाम, हे अचिन्त्य-शक्ति हरे ! तुमको प्रणाम, हे अखिल विस्मय के समुद्र ! तुमको प्रणाम, हे महादेव ! हे शम्भो ! तुमको बार-बार प्रणाम ।

स्तव (ख)

हे देव हे दयित हे जगदेकबन्धो,
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम,
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे ॥१॥

१. हे देव, हे प्रिय, हे सारी दुनिया के एकमात्र बन्धु, हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणा के एकमात्र सिन्धु, हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम, तुम मेरे सामने कब पूर्ण रूप से आकर प्रकट हो जाओगे, अर्थात् मैं आपके अतिरिक्त किसी और को फिर न देखूँ ।

अंसालम्बितवामकुन्तलभरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं जाने जगन्मोहनम् ॥२॥

२. हे परमात्मा मैं तुमको अच्छी तरह से जानता हूँ, तुम संसार को मोहित करनेवाले हो। बाईं ओर बालों का गुच्छा कन्धे को स्पर्श कर रहा है! और भृकुटिप्रदेश कुछ उठा हुआ है। तुम्हारे सुकुमार होंठ कुछ झुके हुए हैं। तुम्हारे नेत्रों में कटाक्ष है। तुम्हारी कौतुकपूर्ण ऋजु उँगलियों ने वंशी को स्पर्श कर मधुर स्वर से पूरित कर दिया है। कल्पवृक्ष की जड़ पर सुन्दर त्रिभंग रूप से खड़े हो।

×हे गोपालक हे कृपाजलनिधे हे सिन्धुकन्यापते
हे कंसान्तक हे गजेन्द्रकरुणावारीन हे माधव।
हे रामानुज हे जगत्रयगुरो हे पुण्डरीकाक्ष मां
हे गोपीजननाथ पालय परं जानामि न त्वां विना ॥ ३ ॥

३. हे गोपालक, हे कृपा के समुद्र, हे श्रीपति, हे कंस को मारनेवाले, हे गजेन्द्र की रक्षा करने के लिए कृपा के समुद्र, हे माधव, हे रामानुज, हे त्रिभुवन के गुरु, हे कमललोचन, हे गोपीजनवल्लभ तुम मुझे पालन करते रहो, मैं आपके अतिरिक्त किसी को श्रेष्ठ करके नहीं मानता।

कस्तूरीतिलकं ललाटफलके वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कङ्कणम्।

सर्वाङ्गे हरिचन्दनं च कलयन् कण्ठे च मुक्तावली:
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः ॥ ४ ॥

४. हे गोपवंश के चूडामणि, हे श्रीकृष्णजी महाराज, तुम्हारी जय हो। तुम्हारे ललाट में कस्तूरीतिलक, वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि, नयनों के सामने नवीन मोती, हाथ में कंकण और प्रत्येक अंग में हरिचन्दन और कंठ में मुक्ताहार है। उसका मधुर स्वर होता है। तुम गोपिकाओं से घिरे हुए हो।

लोकानुन्मदयञ्छ्रुतीन्मुखरयन्क्षोणीरुहान्हर्षयन्
शैलान्विद्रवयन्मृगान्विवशयन्गोवृन्दमानन्दयन्।
गोपान्संभ्रमयन्मुनीन्मुकुलयन्सप्तस्वराञ्जृम्भयन्
ओंकारार्थमुदीरयन्विजयते वंशीनिनादः शिशोः ॥ ५ ॥

५. हे बालगोपालरूपधारी कृष्णजी महाराज! तुम्हारी वंशीध्वनि की जय हो। जो वंशीध्वनि तीनों लोकों को मोहित कर रही है, वेदों की महिमा प्रकट कर रही है। वृक्ष को आनन्द में मग्न कर देती है, पहाड़ को गला देती है। मृग को बेबस कर देती है, गौवों के समुदाय को आनन्द से युक्त कर देती है, गोपों के समूह को चकित कर देती है, मुनियों के मुँह से वेदों का कीर्त्तन कराती है। सप्तस्वर को कंपित करके ओंकार की महिमा प्रकट कर देती है।

स्तव (ग)

✓ ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय
नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय ॥ १ ॥

१. हे सत्यस्वरूप परमात्मा, तुम सर्वलोक के आश्रय हो, तुम्हें नमस्कार है। हे चित्स्वरूप परमात्मा, तुम विश्वरूपात्मक हो, तुम्हें नमस्कार है। हे मुक्ति के देनेवाले, तुम्हें नमस्कार है। हे सर्वव्यापी निर्गुण परमात्मा, तुम्हें नमस्कार है।

✓ त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥ २॥

२. तुम्हीं एकमात्र जीव के आश्राय हो, तुम्हीं सबके एकमात्र पूज्य हो, तुम्हीं एकमात्र संसार के कारण हो। तुम विश्वरूप हो, तुम दुनिया की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले हो, तुम केवल सवश्रेष्ठ, शान्त, निर्विकल्पस्वरूप हो।

✓ भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं
परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम्॥ ३॥

३. तुम सब भय के भय हो, तुम भीषण के भीषण हो, सब प्राणियों की गति हो, सब पवित्र करनेवालों को भी पवित्र करते हो, तुम उच्च पद में अवस्थित हो, उसके भी तुम नियामक हो, तुम श्रेष्ठ से श्रेष्ठ हो, रक्षा करनेवालों की भी रक्षा करते हो।

परेश प्रभो सर्वरूपाविनाशिन्
अनिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य।

अचिन्त्याक्षरव्यापकाव्यक्ततत्त्व
जगद्भासकाधीश पायादपायात् ॥ ४ ॥
तदेकं स्मरामस्तदेकं जपाम-
स्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥ ५ ॥

४—५. तुम सबसे श्रेष्ठ हो, सबके ऊपर शासन करनेवाले हो, तुम सर्वरूपधारी; तुम अविनाशी, तुम वाक्य-मन से अतीत हो, सारी इन्द्रियों से अगम्य हो, तुम सत्यस्वरूप हो, तुम अचिंत्य अक्षर हो, सर्वव्यापक हो, तुम व्यक्त हो और अव्यक्त भी हो, दुनिया का प्रकाश करनेवाले हो, स्वामी तुम सब कष्टों से रक्षा करनेवाले हो, हम तुम्हारी ही शरण में आते हैं। तुमको ही जगत् का साक्षिरूप जानकर नमस्कार है। तुम ही एक नित्य तत्त्व हो। निरालम्ब हो, तुम ईश्वर हो, तुम संसारसागर से पार उतारनेवाले हो, हम तुम्हारी शरण में हैं।

नोट—दिनाजपुर-निवासी वकील श्रीयुत वरदाकान्त-राय विद्यारत्न एवं काशी-निवासी पण्डित श्रीयुत प्रभासचन्द्र काव्यतीर्थ इन महाशयों के द्वारा श्लोकादि विषयों में अनेक प्रकार की सहायता मिली है।

भगवत्तत्त्व

दुनिया में सार-तत्त्व क्या है, इसका अनुसन्धान बहुत दिनों से हो रहा है। विज्ञान ने बाहर के तरफ़ तलाश करते-करते एक महती शक्ति आविष्कार की। दार्शनिक भीतर के तरफ़ चले। उनकी नज़र में आया 'अहं' तत्त्व यानी 'मैं कौन हूँ'। साधक ने समझ लिया कि शक्ति सच्चिदानन्दमयी और दुनिया की स्रष्टा, पाता, विधाता है। ज्ञानी को मिला असल अहंतत्त्व का पता। उन्होंने उसका नाम रक्खा ब्रह्म। उसी ब्रह्म के विषय में मतभेद हुआ। सिद्धान्त हो गया कि वह सगुण व निर्गुण सब है। "द्वावेव ब्रह्मणः रूपे क्षरः अक्षरश्च सगुणो निर्गुणश्च"। भाष्यकारों के भीतर कोई सगुण और कोई निर्गुण भाव लेकर विचार करने लगा। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनों हो है और दोनों से अतीत भी है। परमात्मा के शान्तभाव और लीलाभाव में कौन श्रेष्ठ है, इसको लेकर विवाद शुरू हो गया। साधक ने बीच में आकर कहा कि भाई, क्यों लड़ते हो ? दोनों भाव ही ठीक हैं, एक ही तत्त्व के दो भाव हैं। जो जिसका प्रिय होता है उसकी सब चीज़ ही उसको अच्छी मालूम होती है। "तस्य सर्वैव सुन्दरं योहि यस्य प्रियो नरः"। प्रियतम का जाग्रत् लीलारत भाव भी सुन्दर है और निद्रित शान्तभाव भी सुन्दर है। ज्ञानी का ब्रह्मभाव, योगी का परमात्मभाव, भक्त का भगवद्भाव असल में एक ही अद्वैत तत्त्व है। गुसाईंजी ने कहा है कि जहाँ सारे विरुद्ध भावों का अपूर्व समन्वय पाया जाता है वहाँ ही भगवत् भाव नज़र आवेगा। साधक ध्यान में बैठा, आहिस्ता-आहिस्ता अहंकार दूर होने लगा, मन से सब संस्कार चले गए, आखिर में मन से अतीत अवस्था में पहुँच-कर कहा कि चरम तत्त्व (Noumena) को जान सकते हैं, बल्कि उसमें तन्मयता प्राप्त हो सकती है। जो पंडित सिर्फ़ बातचीत लेकर रहते हैं उनके वचन से शान्ति नहीं मिलती। उनके लिए परमात्मा का अस्तित्व मानना या न मानना काफ़ी है। लेकिन साधक भक्त का परमात्मा ही सर्वस्व है। शान्त, दास्य आदि भावों में से कोई भाव लेकर परमात्मा को आस्वादन किये

बिना उसका काम नहीं चलता। आँखें उनको देखना चाहती हैं, कान उनका वचन सुनना चाहते हैं, हाथ उनकी सेवा करना चाहते हैं। साधक बातों में परमात्मा को मानकर भाव में नास्तिक का व्यवहार कर नहीं सकता। उसने जान लिया है कि उसका भगवान् के बिना काम नहीं चलता, चल नहीं सकता, और कभी नहीं चलेगा। इसलिये वह कहता है कि हे भगवन्! पंडित तुमको अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार, वाक्य और मन से अतीत ध्यान धारणा के बाहर जानकर जिस आराम में रहते हैं उसके बारे में मुझे कुछ सोचने या कहने की ज़रूरत नहीं है। हे परमात्मन्! तुम्हारे बिना मेरा काम नहीं चलता है, मैं ज़िन्दा भी नहीं रह सकता हूँ। यह बात मैं भी मानता हूँ कि कोई तुमको पूरी तरह से न जानता है, न देख सकता है। लेकिन मैं कभी यह बात मानने को तैयार नहीं हूँ कि मैं जो कुछ देखता हूँ, जो कुछ सुनता हूँ, जो कुछ जानता हूँ, उसके भीतर तुम बिलकुल नहीं हो, या मैं जो कुछ पाता हूँ उसमें तुम नहीं हो, या मेरा जो कुछ आनन्द है उसमें तुम बिलकुल नहीं हो। कौन वीर पुरुष, कौन ज्ञानी, कौन प्रेमिक, मातृ-स्नेह को या दाम्पत्य-प्रेम को पूरी तौर से बयान कर सकता है। तुमको जान-कर, पाकर खतम नहीं कर सकता है, इसीलिये तुम इतने मधुर हो। तुममें जो कुछ चीज़ है वह अगर सब पूरे तौर पर कोई पा जाता तब फिर तुम्हारे तरफ़ जाने की ज़रूरत नहीं रहती। तुम अनन्त हो, इसीलिये तुम इतने लोभनीय, इतने वर्णनीय हो। तुमने अनन्त काल से अनन्त ज्ञानी को, अनन्त प्रेमिक को, अनन्त साधक को अपने रूप, गुण और प्रेम में मोहित करके अपनी अनन्त लीला का सहायक करके रक्खा है। हे अरूप, हे अमूर्त! तुम्हीं तो जगत् व्यापी विश्वमूर्ति भी हो। यह दुनिया तो तुम्हारी प्रकटित और व्यक्त अवस्था है। तुम्हीं तो विश्वरूप, विश्वनाथ, विश्वजीव-विग्रह हो। तुम्हीं तो अरूप होकर भी अनन्त रूप धरकर, अनन्त पोशाक पहनकर अनन्त भाव में अनन्त लीलारस विस्तार कर रहे हो। तुम जब सर्व-व्यापी हो तो सबके भीतर से तुम्हारा दर्शन, तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी पूजा करना ही हमारी प्रधान साधना है। हे भगवन्! तुम्हीं तो दुनिया की सृष्टि,

स्थिति, लय के कर्ता और मालिक हो। मैं तुमसे आया हूँ, तुममें ज़िन्दा रहता हूँ और आख़िर में तुममें लय हो जाऊँगा। तुमही तो "श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो मनः यद्वाचोऽवाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः" हो। तुम आँख में न रहो तो आँख नहीं देख सकती, कान में न रहो तो कान नहीं सुन सकता, मन में न रहो तो मन विचार नहीं कर सकता। तुमको लेकर ही हम इतनी हँसी-खुशी के साथ आनन्द कर रहे हैं। तुम्हारे सिवा मेरा और कोई नहीं है। मैं भी नहीं रहूँगा। जिनके बिना मेरा काम नहीं चल सकता, मैं ज़िन्दा नहीं रह सकता, मेरी आँख नहीं देख सकती, मेरा कान नहीं सुन सकता, उनके न होने से मेरा काम कैसे चलेगा। हे परमात्मन्! तुम न होते तो हमारा क्या होता, तुम न मिलते तो हमारा क्या नुक़सान होता, इस विषय में हमारी जो अज्ञानता है उससे ज़्यादा और कोई अज्ञानता नहीं हो सकती। तुम हमारे सबसे प्यारे हो। पुत्र से प्रिय हो, वित्त से प्रिय हो, और जो कुछ है उससे भी प्रिय हो, बल्कि आत्मा से भी प्रिय हो क्योंकि तुम परमात्मा हो। जो मिल जाने पर और कुछ पाना बाक़ी नहीं रहता, जिनको जानकर और कुछ जानना बाक़ी नहीं रहता उन ईप्सिततम को, प्रेमाधार प्राणाराम को छोड़ देने से जिसका काम चलता है वह महामूर्ख है।

जो प्रकृति-प्रकृति, विज्ञान-विज्ञान कहकर इतना चिल्ला रहे हैं वह नहीं देखते कि प्रकृति का अन्तरात्मा कौन है। परमात्मा सबको ज़िन्दा रखने के लिए, सबको पूर्ण परिणत करने के लिए, सबको ज्ञान में, प्रेम में और आनन्द में मगन रखने के लिए कितनी कोशिश कर रहे हैं। देखना चाहिये कि खुद प्रकृतिदेवी अपने प्राणाराम पति की तृप्ति के लिए कितनी व्यस्त हैं। पुरुष को छोड़कर प्रकृति का अस्तित्व तक भी लोप हो जाता है, और जो प्रकृति आनन्दमयी, चैतन्यमयी है उसको अचेतन कहने में हमको शर्म आनी चाहिये। विज्ञान जिस प्रकृति की आलोचना करता है वह सिर्फ़ प्रकृति नहीं है, बल्कि प्रकृति और पुरुष की युगल मूर्ति है। हे सत्स्वरूप परमात्मन्! आकाश की शोभा, समुद्र का गाम्भीर्य, चिड़ियों का गाना, फूलों की खूबसूरती, बालकों की हँसी, माता का वात्सल्य, स्त्री का सोहाग जो सर्वदा हमारा चित्त हरण कर

रहे हैं वे तुम्हारी ही सत्ता के आंशिक विकाशमात्र हैं। हे ज्ञानस्वरूप! व्यास, वशिष्ठ, बुद्ध, शंकर, साक्रेटीज़, न्यूटन, कैन्ट, हेगल आदि का ज्ञान तुम्हारी चिद्विभूति का कणमात्र है। हे आनन्दस्वरूप! ईसा, मुहम्मद, चैतन्य, नानक, सूरदास आदि का प्रेम तुम्हारे आनन्द की विलासविभूतिमात्र है। जिनको छोड़कर और कुछ नहीं रहता, क्या उनको कोई छोड़ सकता है? हे "भयानां भयं भीषणं भीषणानां" हे "गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्" हे पालक, हे रक्षक, हे विभु, हे प्रभु, हे भूतभर्ता, हे ग्रहिष्णु, हे प्रभविष्णु, हे नित्य, हे सर्वगत, हे स्थाणु, हे अचल, हे सनातन, हे सर्वेन्द्रियगुणाभास, हे सर्वेन्द्रियविवर्जित, हे विभक्तेषु अविभक्त, हे सर्वव्यापी, हे चरमगति, हे परमपति, हे अजर, हे अमर, हे शुद्धमपापविद्धं, हे कवि, हे मनीषी, हे परिभू, हे स्वयंभ, हे "यथातथ्यतोऽर्थ का विधानकारी" हे "सत्यं ज्ञानं अनन्तम्" हे "शरण्यं, हे वरेण्यं" हे "शान्तं शिवं सुन्दरं", हे "आनन्द-रूपममृतं", हे हमारे सब कुछ, तुम अपने गुण से कृपा करके मेरे पास प्रकट हो जाओ, ताकि तुम्हारी सत्य की, ज्ञान की, और आनन्द की विभूति हमको सर्वदा आनन्द में समाहित रक्खे।

भगवान्, इष्ट, गुरु-तत्त्व

भगवान्, इष्ट और गुरु इन तीन तत्त्वों को मिलाकर अनेक सम्प्रदाय साधन करते हैं। इसलिये इन तीन तत्त्वों के विषय में कुछ लिखना चाहिये। भगवान् सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जिससे या जिनमें यह दुनिया सृष्ट, परिणत या विवर्तित है, जो हमारी सत्ता चैतन्य, आनन्द का मूल कारण है उस परमात्मा को ख़याल करो कि एक बड़ा क़ालीन है। एक माया की चादर ओढ़कर वह जीव-जगत्‌रूप में प्रतीयमान है। हम माया-आवरण के भीतर से उनको नहीं देख सकते। अगर उस चादर का कोई हिस्सा फटा हुआ हो तो क़ालीन का कुछ हिस्सा उसके भीतर से नज़र आता है। वह हिस्सा सीमाबद्ध मालूम होने पर भी क़ालीन ही के मुआफ़िक है, और वह सीमाबद्ध भाव क़ालीन में नहीं है, बल्कि चादर में है।

वैसे ही जिन साधक भक्त भक्तों के भीतर माया का आवरण फट गया है उनके भीतर से परमात्मा का कुछ हिस्सा नजर में आता है। जो आवरण से पूरा मुक्त है उनके भीतर से परमात्मा पूरे तौर पर प्रकाश पाता है। उनका शरीर सीमाबद्ध मालूम होने पर भी वह तात्त्विक भाव में पूर्ण हैं। जिनके भीतर से परमात्मा के सब लक्षण पूरे तौर पर नजर आते हैं, वह है हमारा इष्टतत्त्व। जिनको देखकर और कुछ देखने का, जिनसे मिलने पर और किसी से मिलने का ख़याल नहीं रहता, जो हमारे सब अभाव और तकलीफ़ें दूर करके हमको तृप्त, शान्त और पूर्ण कर सकता है, वही है हमारा इष्टदेव। जैसे चादर जितनी फाड़ोगे उतना ही क़ालीन व्यापक रूप से नजर आवेगा, वैसे ही इष्ट के ध्यान में तुम जितना समाहित हो जाओगे उतना ही उनका व्यापक भाव तुम्हारी नजर में आवेगा। इसलिये इष्टतत्त्व को "नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वमूर्ते" कहकर प्रणाम करने का विधान है। भूगोल में दुनिया की धारणा करने के लिये सीमाबद्ध नक़शे में सारी दुनिया दिखाई देती है। किताब में लिखा रहता है कि किस जगह से कौन जगह कितनी दूर है। इससे दुनिया को सीमाबद्ध नहीं किया जाता। ऐसे ही मूर्ति के स्तव में परमात्मा को जगद्व्यापी विश्वरूप कहने से सीमाबद्ध नहीं किया जाता। जो कहते हैं कि सर्वशक्तिमान् भक्त के पास मूर्त रूप से प्रकट नहीं हो सकता वह परमात्मा की शक्ति को बहुत सीमाबद्ध समझते हैं। इष्टतत्त्व अवतार या तत्त्वरूप में सीमाबद्ध भाव से अनुभूत है। वह है असीम भगवत्तत्त्व का ग्रहणयोग्य ससीम रूप में प्रकाश। इष्टतत्त्व अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य द्वारा, चित्ताकर्षक अनन्तशक्ति गुण प्रेम आदि द्वारा, जीव का चालक है। वह है करुणामय इसलिये जीव का दुख देखकर विगलित हृदय है। इष्ट में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि सारी वृत्तियाँ पूरी तरह से पूर्ण परिणत अपूर्व सामञ्जस्य-युक्त हैं। वह जीव का सब अभाव दूर करके आनन्द दे सकता है। परमात्मा का अवतार इष्टतत्त्व होने के योग्य है। बहुत क़िस्म के अवतार का नाम सुना जाता है, जैसे पूर्ण अवतार, अंश-अवतार, गुण-अवतार, शक्ति-अवतार।

इनमें काली तारा आदि शक्ति-भाव के, राम-कृष्ण आदि जीव के प्रसिद्ध अवतार हैं। जो अवतार जिस साधक के अनुकूल, चित्ताकर्षक और पूर्णता प्राप्त मालूम होता है वह उसका इष्ट होने के लायक है।

गुरुतत्त्व इष्टतत्त्व की मूर्ति या प्रतीक है। संयत, शुद्ध और शान्त होने के कारण जिनके भीतर से नित्य सिद्ध इष्टतत्त्व प्रायः पूर्णभाव में प्रकटित है, जिनकी बात भाव और काम के भीतर से इष्टतत्त्व प्रायः पूरी तरह से प्रकट मालूम होता है वह है हमारा गुरु। परमात्मा का असीम भाव धारणा से अतीत है। इसलिये जरूरत है इष्टतत्त्व की। और इष्ट-तत्त्व भी आसानी से नहीं मिल सकता, इसलिये जरूरत है सद्गुरु की। ताकि साधन तत्त्वों के भीतर किसी प्रकार की मलिनता न आवे इसलिये इन तीन तत्त्वों को एकत्र करके देखने का विधान है। उपनिषद्, वेदान्त आदि ग्रन्थों में भगवत्-तत्त्व का जो लक्षण बताया है इष्ट-तत्त्व में यह सब लक्षण वर्तमान होना चाहिये। जिनके भीतर से इष्ट-तत्त्व का गुण नजर न आवे वह मेरे गुरु होने के उपयुक्त नहीं हैं। गुरु इष्ट का प्रतीक है। इष्ट परमात्मा का प्रतीक है। गुरु तुमको ले जावेगा इष्ट के पास, और इष्ट के भीतर से तुम पहुँच जाओगे परमात्मा के पास। गुरु और इष्ट के भीतर से परमात्मा के पास जाना देहधारी के वास्ते सहज है।

ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

ऋष् धातु का अर्थ है अपरोक्ष दर्शन। जिनका अपरोक्ष दर्शन खुल गया है वही ऋषि हैं। भगवान् अनन्त हैं। उनके सृष्ट पदार्थ भी अनन्त हैं। जीव अनन्त है, जीव के जीवन के लक्ष्य, और इस लक्ष्य सिद्धि के उपाय भी असंख्य हैं। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की सिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न साधन-प्रणाली होना चाहिये। जिस साधक ने जिस सिद्धि के लिये जैसी साधन-प्रणाली का अवलम्बन करके सिद्धि प्राप्त की है वह उस साधन-प्रणाली का ऋषि है। "ऋषयः मन्त्रद्रष्टा च ते स्मारका न तु कारकाः"। तत्त्व नित्य है, प्रकृति की विधान-प्रणाली भी नित्य है। जो विधान अवलम्बन करके

वह तत्त्व साक्षात्कार हो सकता है, वह विधान भी नित्य है। जिस ऋषि ने साधन के प्रताप से जो साधनप्रणाली आविष्कार की है वह ऋषि उस मन्त्र का सृष्टिकर्त्ता नहीं है, सिर्फ़ द्रष्टा और आविष्कारकर्त्ता है।

जो प्रणाली अवलम्बन करने से जिस छन्द में जिस भाव का कम्पन पैदा करके जो उद्देश्य सिद्ध होता है वह साधनप्रणाली ही उस मन्त्र का छन्द है। देवता शब्द द्योतनार्थक और क्रीड़ार्थक दिव् धातु से साधित है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्तरों में भिन्न-भिन्न तत्त्वों में परमात्म-चैतन्य कैसे प्रकाश पाता है, कैसे लीला करता है, उसी को लेकर देवता-तत्त्व कहा जाता है। भगवत्-चैतन्य के भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब या विभूति, विभिन्न लीला-भाव ही देवता-तत्त्व हैं। कौन साधना कैसे अनुष्ठान करने से कौन प्रयोजन साधित होता है, उसी को लेकर ही विनियोग-तत्त्व है।

पहले ठीक करना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ, और मेरा लक्ष्य क्या है। उसके बाद जानना चाहिये कि उस लक्ष्य के विषय में किसने सिद्धि पाई है। जिन्होंने सिद्धि पाई है उस विषय में वही उस मन्त्र के ऋषि हैं। जिस प्रणाली से सिद्धि प्राप्त हुई वह है उस मन्त्र का छन्द। जिस स्नायुकेन्द्र (Nerve Centre) में वह शक्ति निहित है उसी केन्द्र में प्राणवायु और मनन-शक्ति को चालित करके वहाँ की सुप्त शक्ति को जाग्रत् किया जाता है। वह शक्ति और उसकी कार्यप्रणाली लेकर कहा जाता है देवता-तत्त्व। उसके बाद उस जाग्रत्-शक्ति को मतलब पूरा करने के लिये नियुक्त करके सिद्धि प्राप्त करना ही है विनियोग-तत्त्व का काम। पहले मालूम करना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ। उसके बाद ज़रूरत है उस रास्ते की, सिद्ध गुरु के उपदेश, कृपा और मदद की। उसके बाद ज़रूरत है उनके बताये हुए रास्ते का अवलम्बन करके उस पर साधन करने की। फल होगा उद्देश्य-सिद्धि या उसी देवता का दर्शन। ऋषि हैं तत्त्वदर्शी-गुरु, छन्द हैं साधन-प्रणाली, देवता है अपूर्व सुप्त आराध्य शक्ति। विनियोग है उसी शक्ति को साधन के प्रताप से जाग्रत् करके निर्दिष्ट काम में लगाकर पूर्ण सिद्धि प्राप्ति अर्थात् उद्देश्य की सफलता प्राप्त करना।

यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र-रहस्य

जैसे साधारण दृष्टि-शक्ति के बाहर जो वस्तु है उसका दर्शन करने के लिये हमको दूरबीन से मदद मिलती है वैसे ही साधारण अनुभूति के बाहर जो वस्तु या तत्त्व है उसकी अनुभूति के लिये हमको विभिन्न स्नायुकेन्द्र में चित्त स्थिर करना चाहिये। स्नायुकेन्द्रों के भीतर अलौकिक शक्ति निहित है। विज्ञान भी इस बात को मानता है। जैसे खुर्दबीन और दूरबीन की मदद से बहुत सूक्ष्म और बहुत दूर की चीज़ें नज़र आती हैं वैसे ही योगी पुरुष भिन्न-भिन्न स्नायुकेन्द्रों में प्राणशक्ति चालित करके वहाँ चित्त स्थिर करके बहुत अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से बाहर के तत्त्व) पदार्थ प्रत्यक्ष कर लेते हैं। स्थूल विषयों के दर्शन के लिये जैसे खुर्दबीन, दूरबीन आदि यन्त्र हैं वैसे ही सूक्ष्म व दूरस्थ विषयों की अनुभूति के लिये भिन्न-भिन्न स्नायुकेन्द्रों में विभिन्न शक्ति निहित है। कोई-कोई स्नायुकेन्द्र खराब हो जाने से जो हमारी दर्शन, श्रवण आदि शक्ति लोप हो जाती है यह बात विज्ञान भी मानता है। साधन ग्रन्थ में यह विभिन्न स्नायुकेन्द्र एक-एक यन्त्र कहे जाते हैं। एक-एक मन्त्र-साधन के लिये एक-एक यन्त्र निर्दिष्ट है। दूरबीन से देखने के भीतर तीन तत्त्व हमारे नज़र में आते हैं। एक दूरबीन तत्त्व, दूसरा उसको केन्द्रगत (focus) करने की प्रणाली, तीसरा उसी तरफ़ चित्त स्थिर करना। इसके भीतर पहला तत्त्व यन्त्र, दूसरा तन्त्र, और तीसरा मन्त्र है। ऐसे ही साधन-राज्य में विभिन्न स्नायुकेन्द्र को यन्त्र, उसमें प्राणशक्ति (Nerve Energy) की चालन प्रणाली को तन्त्र, और वहाँ चित्त स्थिर करने का नाम मन्त्र है। जैसे देखने के लिये चक्षु, सुनने के लिये कान निर्दिष्ट यन्त्र हैं वैसे ही विभिन्न सूक्ष्म तत्त्व प्रत्यक्ष करने के लिये विभिन्न यन्त्र (Nerve Centre) हैं। दिव्य दर्शन प्राप्त किये विना दिव्य तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

आजकल जो भिन्न-भिन्न यन्त्र पूजा में देखे जाते हैं वह असल में भीतर के सब यन्त्रों के प्रतीक हैं। यन्त्र निहित शक्ति को जाग्रत् करने के लिये जो प्राणप्रतिष्ठा और बोधन आदि क्रिया हैं वह हैं तन्त्र और मन्त्र

तत्त्व के प्रतिक। प्रतीक अवलम्बन करके तत्त्व में पहुँच जाना है उसका उद्देश्य। अब हम भीतर के तत्त्व को छोड़कर बाहर के प्रतीक में सीमाबद्ध होकर कहते हैं कि कलियुग में देवतादर्शन और इष्टदर्शन असम्भव है।

मन्त्रः—"मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात् मन्त्र उदाहृतः" जिसके मनन से अर्थात् ध्यान द्वारा जीव संसार-सागर से, सारी तकलीफ़ों से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है उसका नाम है मन्त्र। मन्त्र बहुत प्रकार के हैं, लेकिन सब मन्त्रों का उद्देश्य एक ही है। मन्त्र का अर्थ समझने से मालूम होगा कि मन्त्र के बीज के भीतर हमारे जीवन का लक्ष्य और उसके हासिल करने का तरीक़ा निहित है। साधारण तौर पर मन्त्र के भीतर तीन हिस्से हैं, प्रणव, बीज और देवता। एकाक्षर जो मन्त्र है उसके भीतर भी यह तीन तत्त्व निहित हैं। प्रणव सर्वव्यापी परमात्मा का तत्त्व प्रकाश करता है, बीज व्यष्टि जीवन का लक्ष्य बता देता है, देवता उस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय बता देता है। एक बरगद के बीज में जैसे पूर्ण परिणत फल-फूल से शोभित वृक्ष होने की शक्ति निहित है वैसे ही मन्त्र के बीज में भी विशिष्ट जीवों के पूर्ण परिणति पाने की शक्ति निहित है। ओंकार के भीतर सर्वव्यापी भगवत्तत्त्व निहित है। 'ह्रीं' 'क्लीं' आदि बीज के भीतर व्यष्टि भावापन्न प्रत्येक-चैतन्य के सब तत्त्व निहित हैं। देवतातत्त्व मुझे बता देता है कि किस प्रकार की साधन-प्रणाली अवलम्बन करने से मैं पूर्ण परिणति प्राप्त कर सकता हूँ, और परमात्मा की इच्छा मेरे भीतर से पूर्ण हो सकती है, अर्थात् देवतातत्त्व साधन-प्रणाली बताता है। भगवत् चैतन्य प्रकृति के सब स्तरों के भीतर से कैसे प्रकाश पाता है और लीला करता है इसी को लेकर देवतातत्त्व है। देवता साक्षात् करने का अर्थ है उन तत्त्वों के भीतर से भगवत्-चैतन्य को अबाधित भाव से प्रकट करना, और उपलब्धि करना। प्रणव-तत्त्व से मालूम होता है कि परमात्मा क्या है। बीज से मालूम होता है कि हमारा स्वरूप क्या है, हमारे साथ परमात्मा का क्या सम्बन्ध है, और क्या काम पूरा करने के लिये परमात्मा ने हमको भेजा है। देवता-तत्त्व से मालूम होगा कि परमात्मा का मतलब कैसे पूरा होगा। पहले समझना चाहिये कि मन्त्र का अर्थ क्या

है। उसके बाद उस मन्त्र की साधना द्वारा मन्त्र चेतन (जाग्रत्) हो जावेगा। तब मन्त्र के सब तत्त्व प्रकट होने लगेंगे। अर्थ के भीतर जो तत्त्व मालूम हुआ था वह प्रत्यक्ष हो जावेगा। "ओं क्लीं कृष्णाय" मन्त्र का साधक 'ओं' के भीतर से समष्टि भगवत्तत्त्व उपलब्धि कर सकता है। 'क्लीं' बीज के भीतर से अपने भीतर व्यष्टि कृष्ण-तत्त्व को प्रकट कर सकता है। 'कृष्णाय' शब्द के साधन से अपने भीतर के हरएक तत्त्व में कृष्णजी का दर्शन करके साधक कृष्णमय हो जाता है। एक-एक मन्त्र साधनप्रणाली के सारे तत्त्वों का एक-एक सांकेतिक चिन्ह है। मन्त्र के तीन हिस्सों से भगवत्तत्त्व, अपना स्वरूप-तत्त्व और भगवत्-प्राप्ति के उपाय मालूम हो जाते हैं। साधन-राज्य में स्त्री व पुरुष दोनों का समान अधिकार है। मैत्रेयी, गार्गी, वाचक्नवी के नाम से हम सब परिचित हैं। काली, दुर्गा, लक्ष्मी आदि स्त्री देवता हैं। ओंकार के भीतर का अकार उकार मकार परमात्मा का व्यक्त अंश (Emmanent) और अर्द्ध मात्रा अव्यक्त (Transcendental) अंश का प्रकाश करते हैं।

अधिकारी विचार

एक ने जब बहु होने का ख़याल किया तब दुनिया में भिन्न-भिन्न तत्त्व और भिन्न-भिन्न चीजें पैदा हुईं। दुनिया में कोई दो चीज़ या दो आदमी ऐसे नहीं मिलेंगे जो सब विषयों में एक से हों। भीतर में एक ही परमात्मा है। इसलिये जितना भीतर के तरफ़ जाओगे उतनी ही भेद-बुद्धि दूर होने लगेगी। आम का पेड़ जामुन से भिन्न है। राम रावण से भिन्न हैं। हरएक पदार्थ अलग-अलग काम करने के लिये आया है। एक का काम दूसरे से नहीं हो सकता। पूर्वजन्म के कर्म से, या मां-बाप से, या परमात्मा की कृपा से प्राप्त जो शक्ति है उसका नाम गुण है, और शिक्षा दीक्षा से जो शक्ति प्राप्त होती है उनका नाम है कर्म। इन दोनों शक्तियों से आदमी का अधिकार (कौन आदमी किस काम के योग्य है) निर्धारित हो जाता है। और ऐसा भी होता है कि आज हम जो काम करने के लायक़ नहीं हैं वह काम करने की योग्यता दो साल बाद प्राप्त कर लेते

हैं। आज जो लड़का नीचे के दरजों में पढ़ता है कुछ साल बाद वही बी० ए० और एम्० ए० पास करेगा। साधन-राज्य में भी हर आदमी हर काम नहीं कर सकता, और आज जो साधन समझ में नही आता दो-चार बरस साधन करने के बाद वह तत्त्व समझ में आ जावेगा। इसलिये साधन-राज्य में श्रेणी-विभाग रक्खा गया है। उन्नति-प्राप्ति के साथ-साथ साधन-प्रणाली के किसी-किसी विषय में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा देश, काल, पात्र के अनुसार भी साधन-प्रणाली परिवर्तनीय है। सब काम के भीतर एक नित्य और एक नैमित्तिक भाव नजर आता है। नित्य भाव कभी बदलना नहीं चाहिये। नैमित्तिक भाव देश, काल, पात्र के साथ बदलना चाहिये। गुण-कर्म का विचार छोड़कर क्रमोन्नति का तत्त्व भूलकर आज हमारा जीवन नीरस हो गया। साधन और भजन के तरफ़ से भी ख़याल छूट गया। अधिकारी विचार के तरफ़ नजर रखने से और जाति-भेद सिर्फ़ वंशगत न होकर गुणकर्मगत होने से हमारी उन्नति स्वाभाविक हो जाती है, और हमारा जीवन शान्तिपूर्ण हो जाता है। वैष्णवों का विधि-मार्ग और रागमार्ग, तान्त्रिकों का पश्वाचार-वीराचार आदि और प्राचीन जाति-भेद भी अधिकारी-विचार की महिमा प्रकाश करते हैं।

गुरुवाद और दीक्षा

हर काम में गुरु की अर्थात् उपयुक्त शिक्षक की जरूरत है। जिसने जिस काम में सिद्धि पाई है वह उस काम में शिक्षा दे सकता है, वह उस काम का प्रकृत कुल-गुरु है। विज्ञान की शिक्षा लेने के लिये जगदीशचन्द्र बोस के समान वैज्ञानिक को श्रेष्ठ गुरु समझना चाहिये। साधन-राज्य में भी जो हमको देखकर हमारा सब हाल मालूम कर सकता है, जिसका हमारे ऊपर प्रेम है, जो अपना स्वार्थ सिद्ध न करके हमारी शान्ति और उन्नति के तरफ़ ज़्यादा नजर देता है, जिस रास्ते पर हमको जाना है उस रास्ते पर ख़ुद चलकर जो सिद्धि प्राप्त कर चुका है, और जो हमारा हाथ पकड़कर हमको भी सिद्धि तक पहुँचा सकता है वह संयत, शुद्ध, दक्ष, प्रेमी, ज्ञानी और

तत्त्वदर्शी पुरुष ही हमारा गुरु होने के लायक़ है। अनधिकारी गुरु से सबको बहुत नुक़सान पहुँचता है। सब काम की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दीक्षा की ज़रूरत है। काम में व्रती (दीक्षित) तीव्र संकल्पयुक्त हुए विना सिद्धि पाना अनिश्चित है। पुराने ज़माने में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुरु के आश्रम में जाकर गायत्री-मन्त्र की दीक्षा पाते थे। गुरु शिष्य के जीवन का लक्ष्य और उसकी साधन-प्रणाली बताकर उन्नति और शान्ति के सहायक हो जाते थे। हम जो काम करने को आये हैं उसे अच्छी तरह से करने का रास्ता दीक्षा से जान लेते थे। हमारी असल रहने की जगह थी भगवत्-धाम। वहाँ अपने-अपने अधिकार के अनुसार हम परमात्मा की सेवा में विभोर रहते थे। दुनिया में आकर अपना स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप, परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध, हमारे जीवन का कतर्व्य, हम भूल गये हैं। सद्‌गुरु हमारी यह भूल दूर करके हमें हमारा प्रकृत स्वरूप और हमारा कर्तव्य बता देते थे। दीक्षा पाने के बाद हम परमात्मा के बन जाते थे। हमारा सब काम परकीय अर्थात् परमात्मा सम्बन्धीय हो जाता था। संसार मालूम होता था भगवत्-धाम, जीव मालूम होता था शिव की मूर्ति, कर्म हो जाता था यज्ञ, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति और ब्रह्म सेवा हो जाता था हमारे जीवन का लक्ष्य। खुद उन्नत और शान्त होकर सबको उन्नत और शान्त करने का प्रयत्न हो जाता था हमारा स्वाभाविक कर्म। दीक्षा से हम हो जाते थे परमात्मा के सेवक, हमारे सब नातेदार हो जाते थे परमात्मा की विभूति, अपना स्वार्थ हो जाता था दुनिया का कल्याण अर्थात् भगवत्-प्रेम। हमारे सब काम और सब सम्बन्ध हो जाते थे शान्त, पवित्र, अति सुन्दर, अति मधुर।

समय तत्त्व

हमारा साल छः ऋतुओं में विभक्त है। जगज्जीव श्रीभगवान् की विभूति और उनकी मूर्ति है। हमारा परमात्मा, हर ऋतु में भिन्न-भिन्न भाव से प्रकाश पाता है। उनके प्रकाश की भिन्नता के अनुसार प्रकृतिदेवी

भी भिन्न-भिन्न उपचार से हमारे परमात्मा की (अपने प्राणाराम की) पूजा करती है। हम सब प्रकृतिदेवी की सन्तान हैं। हमारी पूजा है अपने-अपने अधिकार के अनुसार जननी प्रकृतिदेवी की पूजा में मदद देना। वैष्णव-धर्म का सखी मञ्जरी आदि तत्त्व, सेवा और ध्यान-विभाग इस तत्त्व को अच्छी तरह से प्रकाश करता है। परमात्मा का प्रकाश और लीला-रहस्य हर दिन बल्कि हर घंटा हर मिनिट और हर सेकिंड में बदल जाता है। इसलिये प्रकृतिदेवी की पूजा में कालगत भेद नजर आता है वैष्णवों की अष्टकालीय साधन-प्रणाली ने इस तरफ़ बहुत नजर रक्खी है आर्य्य ऋषिगण ने इस तत्त्व को विचार करके ऋतु-भेद, मास-भेद, तिथि भेद, वार-भेद, दिन-रात भेद बल्कि मुहूर्त-भेद के अनुसार साधन बताया है। योगशास्त्र में जिस नाक से साँस चलती है इस तरफ़ नजर रख कर साधन-भेद बताया है। जब दक्षिण नासिका से साँस चले तब पुरुष औ जब वाम नासिका से साँस चले तब स्त्रीदेवता का ध्यान प्रशस्त है। दिन पुरुष देवता की और रात में स्त्री देवता की, शुक्लपक्ष में पुरुष देवता की, कृष्णपक्ष में स्त्री देवता की, उत्तरायण में पुरुष देवता की, दक्षिणायन में स्त्री देवता की साधना विधेय है। इसी तरह से सारे काल के विभिन्न अवयव की तर नज़र रखकर उसके भीतर एक अपूर्व समन्वय बाहर करके पूजा का शुभ मुहू निर्णय करना चाहिए। अब समझ में आवेगा कि तीन सन्ध्या में गायत्रीदे का ध्यान तीन प्रकार का क्यों रक्खा गया है। असल बात यह है कि सबे के वक्त प्रकृतिदेवी और हम विश्राम से काम की तरफ़ जाते हैं। इसलि सबेरे की साधना में जिससे हमारा काम परमात्मा के अनुमोदित होवे, जिस काम के भीतर से हम भगवत् इच्छा को सफल करें उस तरफ़ नज़र रक्ख है। शाम के वक्त प्रकृतिदेवी और उनके साथ-साथ हम भी काम से विश्र के तरफ़ जाते हैं। इसलिए शाम की पूजा में हम परमात्मा से प्रार्थना क हैं कि हे परमात्मा! दिन के वक़्त काम के भीतर भ्रमप्रमाद के कारण हम शरीर और मन में जो कुछ मलिनता और अवसाद आ गये हैं वह सब करके मुझे अपने पास बुला लो। रात के वक्त प्रकृतिदेवी परमात्मा के स

मिलनानन्दभोग करती हैं। इसलिए रात की पूजा में हम भी परमात्मा में समाहित होकर मिलनानन्द अनुभव करने की कोशिश करते हैं। वैष्णव शास्त्र पूर्व गोष्ठ और उत्तर गोष्ठ के ध्यान से अच्छी तरह से इस भाव को प्रकाशित करता है।

गोष्ठ:—सुबह के वक्त हमारी सब गायें अर्थात् इन्द्रियाँ संसार के गोष्ठ में शब्दादि विषय के भीतर से परमात्मा का आस्वादन करने की कोशिश करती हैं। "गावस्तिष्ठन्ति अत्र इति गोष्ठम्, गावः इन्द्रियाणि"। जहाँ गायें रहती हैं या चरती हैं उसी का नाम है गोष्ठ। हमारी इन्द्रियाँ ही गायें हैं। जिससे हमारी सारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सर्वत्र परमात्मा को ढूँढ़ती रहें, परमात्मा का काम करती रहें उस तरफ़ नज़र रखना ही पूर्व गोष्ठ का प्रधान काम है। शाम को उत्तर गोष्ठ लीला के वक्त हमारी इन्द्रियरूप गाय को विषय से लौटाकर शुद्ध करके परमात्मा की अनुभूति में लगा रखने की व्यवस्था है। सुबह के वक्त आत्मा की गति रहती है बाहर की तरफ़। तब आत्मा, बुद्धि मन-प्राण और इन्द्रियों के भीतर से अपने को प्रकाशित करने के लिए, लीलातत्त्व का आस्वादन करने के लिए जाता है बाहर की तरफ़। शाम के वक्त आत्मा की गति रहती है बाहर से भीतर की तरफ़। तब आत्मा इन्द्रिय को प्राण में, प्राण को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में, आत्मा को परमात्मा में लीन करके, जीवात्मा व परमात्मा का मिलनानन्द अनुभव करने की कोशिश करता है। सारे दिन को आठ हिस्सों में विभाग करके एक-एक हिस्से के लिए एक-एक प्रकार की साधना का निर्देश किया है।

पंचकोशविवेक

कोश शब्द का अर्थ है आवरण। शास्त्र में हमारा परमात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच आवरण के भीतर अवस्थित है। "पंचेषु कोशेषु विराजमाना बुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम्"। हमारे हर देहरूप घर में इन पाँच प्रकार के आवरण के भीतर परमात्मा विराजमान है।

परमात्मा के पास जाने के लिए अन्नमय स्थूलशरीर, प्राणमय अर्थात् जन्म, मृत्यु आदि व्यापार, मनोमय अर्थात् भावना, चिन्ता, विज्ञानमय अर्थात् विचार, बुद्धि, आनन्दमय अर्थात् संसार आदि के अध्यास के हाथ से मुक्त होना पड़ेगा। उसके बाद सब संस्कार और अज्ञानता से मुक्त होकर अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप में अवस्थान करना पड़ेगा। पंचकोशभेद अब पंचकोसी भ्रमण (पाँच कोस का एक चक्कर देने) में पर्यवसित हो गया है।

नेति-नेति-साधन

नेति शब्द का अर्थ 'न इति' है, यानी मैं यह नहीं हूँ। मैं स्थूल देह नहीं हूँ इसलिए मुझे स्थूल के सुख-दुख में विचलित होना नहीं चाहिए। मैं सूक्ष्म देह नहीं हूँ इसलिए मुझमें सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कल्पना-जल्पना नहीं रहना चाहिए। मैं कारण शरीर नहीं हूँ इसलिए अज्ञानता, संस्कार आदि मुझे छू नहीं सकते। मेरा असल स्वरूप वाक्य-मन से अतीत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है। षट्चक्रभेद और पंचकोषविवेक इस साधना में मदद देते हैं। 'नेति-नेति' साधन के बाद 'इति इति' साधना नजर में आती है। इसमें परमात्मा की भर्ग अर्थात् ब्रह्मशक्ति को सब तत्त्वों में ले जाकर अपने त्रिविध देह को, सारी दुनिया को ब्रह्म भाव से परिभावित, अर्थात् ब्रह्ममय किया जाता है।

षट्चक्रभेद

संवेदक स्नायुमण्डल (Nerve Centres) का नाम ही चक्र है। देह में बहुत चक्र हैं जिनमें से सात चक्र प्रधान हैं। रीढ़ की हड्डी के बाहर बाई तरफ़ चन्द्रतुल्य इड़ा, दक्षिण की तरफ़ सूर्यतुल्य पिंगला और बीच में चन्द्र सूर्य-वह्निरूपा सुषुम्ना नाड़ी विराजमान है। यह सुषुम्ना मेरुदण्ड के ऊर्ध्व देशस्थ सहस्रार से नीचे मूलाधार तक विस्तृत है। इसका सबसे नीचे गुह्य और लिंग के बीच में मूलाधारचक्र (Ganglion Coccygeal) है। योग शास्त्र के अनुसार यह रक्तवर्ण चारदलविशिष्ट है। यहाँ शिशु ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति विराजित हैं। यहाँ साढ़े तीन चक्रवाली कुलकुण्डलिनी त्रिगुण

मयी प्रकृति अधिष्ठिता है। इसके ऊपर लिंग-मूल में स्वाधिष्ठानचक्र (Pelvic Plexus) विराजमान है। इसके छः दल हैं। यहाँ के देवता चतुर्भुज नारायण हैं, शक्ति राकिनी है। इसके ऊपर नाभिमूल में दशदल मणिपूरचक्र (Solar Plexus) है। यहाँ का देवता है रुद्र और शक्ति है लाकिनी। इसके ऊपर हृदयदेश में द्वादशदल अनाहतचक्र (Cardiac Plexus) है। यहाँ देवता ईशान और शक्ति काकिनी विराजमान हैं। कोई-कोई कहते हैं कि जीवात्मा यहीं रहता है। कण्ठदेश में षोडशदल विशुद्धाख्यचक्र है। यहाँ का देवता महादेव और शक्ति शाकिनी है। इसके ऊपर भौं के बीच में द्विदल आज्ञाचक्र है। यहाँ देवता शिव और शक्ति हाकिनी विराजमान हैं। सबसे ऊपर सिर के अन्दर सहस्रदलविशिष्ट सहस्रारचक्र है। यह देश शून्याकार है, उसका मुँह नीचे की तरफ़ है। यह सदाशिव का स्थान है। सब सम्प्रदायों के साधक सबसे ऊपर अपने इष्टदेव को बैठाकर दूसरे चक्रों में और देवताओं को बैठाते हैं। बहुत साधक इस षट्चक्र के भीतर से चित्त को चढ़ाने-उतारने के साथ जप करते हैं और चक्रविशेष में चित्त स्थिर करके वहाँ पर अपने इष्टदेव के ध्यान में मग्न हो जाते हैं। वैष्णव लोग सुषुम्ना को यमुना और शाक्त उसको गंगा कहते हैं। मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक क्षितितत्त्व-प्रधान अन्नमयकोष का, मणिपूर से अनाहत तक तेजतत्त्वप्रधान मनोमय कोष का, अनाहत से विशुद्धाख्य तक वायुप्रधान विज्ञानमयकोष का और विशुद्धाख्य से आज्ञाचक्र तक आकाशतत्त्वप्रधान आनन्दमयकोष का स्थान है। इसके भीतर फिर अन्नमय तमोगुणप्रधान स्थूल देह का, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय रजोगुणप्रधान सूक्ष्म शरीर का, आनन्दमय सत्त्वगुणप्रधान कारण शरीर का स्थान है। सहस्रार अप्राकृत, गुणातीत, कोषातीत ब्रह्मतत्त्व का स्थान है। जिस तत्त्व के विषय में ध्यान करना हो साधक अपने चित्त को उस तत्त्व के स्थिति-स्थानरूप चक्र में समाहित करके फ़ायदा उठाते हैं। कोई-कोई योगी पुरुष साँस के साथ चित्त को चढ़ाकर और उतारकर अपने-अपने इष्ट मन्त्र का अथवा अजपा जप करते हैं। चक्रों के भीतर के रास्ते पर अधिकार प्राप्त करके कोई-कोई साधक बहुत अलौकिक काम दिखाते हैं।

ग्रन्थिभेद

शास्त्र में त्रिविध ग्रन्थिभेद करके ब्रह्म में स्थिति पाने का उपदेश देखा जाता है। इन तीन ग्रन्थियों का नाम है ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। चण्डी में मधुकैटभ के वध द्वारा साधक सत्यप्रतिष्ठ होकर अपना सीमाबद्धभाव दूर करके सर्वत्र ब्रह्मदर्शन द्वारा ब्रह्मग्रन्थिभेद करते हैं। महिषासुर का वध करके प्राणतत्त्व में प्रतिष्ठित होकर सर्वत्र एक महाप्राण का खेल देखते-देखते अहंकार को दूर करके विष्णुग्रन्थिभेद करते हैं, और शुम्भ-निशुम्भ का वध करके आनन्दतत्त्व में प्रतिष्ठित होकर सर्वत्र ब्रह्मानन्द की अनुभूति द्वारा रुद्रग्रन्थिभेद करते हैं। त्रिविध कर्मवासना का बीज ही मुक्ति का, भगवत्-प्राप्ति का प्रधान विघ्न है। ब्रह्मग्रन्थिभेद द्वारा प्रारब्ध-कर्म, विष्णुग्रन्थिभेद द्वारा सञ्चित कर्म, और रुद्रग्रन्थिभेद द्वारा आगामी कर्म भी दग्ध हो जाते हैं। स्थूल देह का संस्कार ब्रह्मग्रन्थिभेद से, सूक्ष्म देह का संस्कार विष्णुग्रन्थिभेद से, कारणदेह का संस्कार रुद्रग्रन्थिभेद से दूर हो जाता है। इसके भीतर पहले काम से पुत्रैषणा, दूसरे काम से वित्तैषणा, तीसरे काम से लोकैषणा दूर होकर गीतोक्त सच्चे संन्यास का अधिकार प्राप्त हो जाता है। लोकैषणा दूर करना सबसे कठिन है।

कुलकुण्डलिनी

कुलकुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में निद्रिता साढ़े तीन चक्रयुक्ता है। दुनिया के और शरीर के हर परमाणु में अनन्त शक्ति निहित है। यह शक्ति असल में गुणातीत, अव्यक्त और अर्धमात्रा है। उसके ऊपर कारण, सूक्ष्म स्थूल शरीरगत आवरण हैं। अकार के भीतर जैसे अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा है वैसे ही हर परमाणु, हर स्नायुकेन्द्र के भीतर भी स्थूल सूक्ष्म, कारण और अर्धमात्रा विराजमान हैं। केन्द्र में अवस्थित शक्ति को जाग्रत् करके उनके गुणातीत तत्त्व से अवगत होकर उनको कारण, सूक्ष्म स्थूल तत्त्व के भीतर से पूरी तौर पर प्रकट करना ही कुलकुण्डलिनी को जाग्रत् करना है। हमारे दर्शनयन्त्र के केन्द्र (Optic nerve centre) में ऐसी शक्ति निहित है जिसको जाग्रत् और प्रकट करने से दुनिया के स्थूल,

सूक्ष्म, कारणतत्त्व, बल्कि गुणातीततत्त्व का भी दर्शन किया जा सकता है। मारे शरीर के भीतर असंख्य स्नायुकेन्द्र मौजूद हैं। उनमें से एक-एक केन्द्र में एक-एक शक्ति निहित है। आमतौर पर वह शक्ति निद्रित (अप्रकट) रहती है। उस शक्ति को प्रकट करने से उस विषय में असीम शक्ति प्राप्त की जा सकती है। देहस्थ सब केन्द्रों को जाग्रत् करने का नाम ही कुलकुण्डलिनी को जाग्रत् करना है। हमारा मन साधारणतः पड़ा रहता है स्थूल दुनिया में। स्थूल दुनिया का केन्द्र है मूलाधार में। स्थूल के विषय में भी हम बहुत कम ही जानते हैं। हमारे मन के अन्दर इतनी शक्ति निहित है कि जिससे हम सब जान सकते हैं। इसलिए हम मूलाधार में सुप्त जो मन है उसको सहस्रार में ले जाकर, पूरे तरह पर परिणत करके अपने सब स्नायुकेन्द्रों को सब काम करने के काबिल करके चित्त को भीतर के सब तत्त्वों में ले जाकर भीतर की कुण्डलिनीदेवी को सब आवरणों से मुक्त कर देंगे। तब हम दर्शन, श्रवण आदि को सूक्ष्म कारणभाव तक फैलाकार छिपी हुई शक्ति को जाग्रत् कर देंगे। सब निद्रित शक्ति को जाग्रत् करना, मुक्तभाव से पूरे तौर पर दर्शन, श्रवण-शक्ति प्राप्त करना ही कुण्डलिनी को जाग्रत् करना है। वह जब जाग्रत् हो जाती है तब हमारे भीतर से सब योगविभूति प्रकट हो जाती है। साधन के प्रताप से हर इन्द्रिय में सारी इन्द्रियों की शक्ति प्रकट हो जाती है। तब कान से देखना, हाथ से सुनना सम्भव हो जाता है। हमारे कृष्णजी में सब वृत्तियों ने पूर्ण परिणति प्राप्त की थी। "अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति" यह मन्त्र इस तत्त्व को प्रमाणित करता है। साधक एक-एक स्नायुकेन्द्र में चित्त को स्थिर करके उसी जगह पर छिपी हुई सब शक्ति प्राप्त करके अलौकिक काम कर सकता है।

मूर्तितत्त्व

मूर्ति शब्द 'मूर्च्छ्' धातु के साथ 'क्ति' प्रत्यय करके साधित होता है। मूर्ति शब्द का अर्थ है व्यक्त अवस्था (Manifestation)। "प्रकटितः वा व्यक्तावस्था मूर्तिः।" पूजा शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ का अवलम्बन करके अपने को

श्रेष्ठ कर लेना। मूर्तिपूजा का अर्थ है व्यक्त प्रकाश को अवलम्बन करके, अव्यक्त ब्रह्मतत्त्व में, भगवद्विभूति, भगवद्विकाशरूप श्रेष्ठ महात्मादि का अवलम्बन करके, श्रीभगवान् के पास पहुँचने की कोशिश करना। परमात्मा का अव्यक्त भाव मन-बुद्धि से अतीत है। परमात्मा की सृष्टि, स्थिति आदि अपने को प्रकाश करने के लिए है। व्यक्त जब अव्यक्त को प्रकाश करने के लिए, अव्यक्त को ग्रहणयोग्य करने के लिए है तब व्यक्त का अवलम्बन करके अव्यक्त में पहुँचने की कोशिश करना अस्वाभाविक या निन्दनीय नहीं है। प्रकाश दो प्रकार का होता है। व्यक्तभाव में (जैसे आदर्श पुरुषरूप में), और तात्त्विक भाव में। हम जो मूर्तियाँ देखते हैं वह सब आदर्श पुरुष की प्रतीक हैं। इस आदर्श तत्त्व और आदर्श पुरुष की मदद से आदर्श जीवन प्राप्त करने को ही मूर्तिपूजा कहा जाता है। काली, दुर्गा आदि तात्त्विक और राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ऐतिहासिक आदर्श का अवलम्बन करने से श्रेष्ठता प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हम भी मानते हैं कि मूर्तिपूजा में बहुत विकृति आ गई है। दुनिया में ऐसा कौन धर्म या मत है जो अनधिकारी के हाथ में पड़कर विकृत नहीं होता है। हम ध्वंस नहीं चाहते बल्कि शोधन चाहते हैं। तुम एक मत खण्डन करके जो मत स्थापित करोगे उसके बारे में कौन कह सकता है कि वह विकृत नहीं होगा। आदर्श मूर्ति अवलम्बन करके कैसे आदर्श जीवन प्राप्त हो सकता है यह तत्त्व ध्यान, धारणा, समाधि आदि तत्त्व में वर्णन किया जायेगा। मूर्ति के द्वारा हम अमूर्त भगवान् को सीमाबद्ध नहीं करते हैं। "नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वमूर्तें" आदि स्तव इसके साक्षी हैं। व्यक्त, अव्यक्त, सगुण, निर्गुण दोनों भाव जब परमात्मा में वर्तमान हैं, उपनिषद् के ऋषियों ने जब दोनों भाव की एक ही तरह से तारीफ़ की है तब सगुणभाव से निर्गुणभाव को, व्यक्तभाव से अव्यक्तभाव को श्रेष्ठ कहना पण्डितों का काम नहीं है।

शब्दतत्त्व

शब्दब्रह्म शक्ति-स्वधा का कम्पन है, जिससे दुनिया की सृष्टि, स्थिति,

लय साधित होती है। ब्रह्म स्वधा युक्त है। यह स्वधा ही इच्छा, ज्ञान, क्रियारूपा, भगवत्-शक्ति है। ब्रह्म में, शब्दब्रह्म में सगुण और गुणातीत दोनों भाव वर्तमान हैं। गुणातीतभाव वाक्य, मन के अगोचर है, सगुणभाव कारण, सूक्ष्म, स्थूलरूप में परिणत और विवर्तित है। शब्द के भीतर 'परा' भाव गुणातीत ब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित करता है। इसलिए परा-अवस्था में सब शब्द-ब्रह्म का वाचक है। पश्यन्ती कारण तत्त्व का, मध्यमा सूक्ष्म तत्त्व का, वैखरी स्थूल तत्त्व का भाव प्रकाश करते हैं। सब शब्दों की चार अवस्थाएँ हैं। इसलिए शब्द का अर्थ समझने के लिए लेखक या वक्ता ने जिस तरफ़ नज़र दी है उस तरफ़ ध्यान रखना चाहिए। एक ही गुणातीत शब्द-ब्रह्म-तत्त्व सगुण कारण सूक्ष्म-स्थूल-भाव प्राप्त होने के वक्त कारण, सूक्ष्म, स्थूल अवस्था के भीतर एक-एक वृत्ति तैयार करके एक-एक नाम प्राप्त करते हैं। इसलिए सब शब्द का ही चार प्रकार का अर्थ नज़र आता है। परा-अवस्था निर्गुण ब्रह्म का, पश्यन्ती जीवात्मा का, मध्यमा मनस्तत्त्व का, वैखरी स्थूल तत्त्व का वाचक है। जैसे अग्नि शब्द परा-अवस्था में ब्रह्म को, पश्यन्ती-अवस्था में ब्रह्मज्योति यानी जीवात्मा को, मध्यमा-अवस्था में प्राणशक्ति को, वैखरी-अवस्था में स्थूल अग्नि को प्रकाश करता है। "अग्नि त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।" अग्नि तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म-स्वरूप हो। यहाँ अग्नि शब्द अग्नि की परा-अवस्था प्रकाश करता है। अग्नि तुम जीवात्मा हो, अग्नि तुम खाना हज़म करती हो। इन सब जगहों पर अग्नि शब्द यथाक्रम से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भाव को प्रकाश करता है। जिस भाव की तरफ़ नज़र रखकर शब्दव्यवहार किया है उसी भाव की तरफ़ नज़र रखकर उसके अनुरूप अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार तीर्थ ब्रह्मज्ञान, तीर्थ स्वरूप में अवस्थान, तीर्थ मन की शुद्धि और तीर्थ साधुजनसेवित पवित्र स्थान है। गंगा ब्रह्मज्ञान, गंगा जीवभाव, गंगा पवित्र मनस्तत्त्व और गंगा पवित्र सलिला नदी है। शब्द का अर्थ करते वक़्त लेखक कौन तत्त्व प्रकाश करना चाहता है उस तरफ़ नज़र रखकर शब्द का अर्थ करना चाहिए। शिव, राम, कृष्ण आदि नाम के भीतर भी चार प्रकार के तत्त्व नज़र आते हैं। यह सब एक ही ब्रह्म की चार अवस्था प्रकाश करते हैं। एक नाम का परा-भाव लेकर

अन्य नाम का पश्यन्ती आदि भाव की तुलना करके किसी नाम का श्रेष्ठत्व प्रमाणित करना उचित नहीं है। शब्दतत्त्व के रहस्य की तरफ़ नज़र रखने से हम बहुत झगड़ा-फ़साद से बच सकते हैं।

नाम-रूप

नाम-रूप-तत्त्व लेकर बौद्ध दार्शनिकों ने बहुत विचार किया है। बौद्धमत के अनुसार सारे तत्त्व पाँच स्कन्धों में विभक्त हैं। क्षिति, अप् आदि महाभूत-गण का समष्टि लेकर रूपस्कन्ध अर्थात् रूपतत्त्व है। उनके साथ हमारा सम्बन्ध-जनित वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि चार स्कन्ध लेकर है नामतत्त्व। बौद्धदर्शन ने दो प्रकार से जगत् का उल्लेख किया है। एक बहिर्जगत् या जड़ जगत् और एक अन्तर्जगत् या मनोमय जगत्। बहिर्जगत् लेकर रूप-तत्त्व है, और अन्तर्जगत् लेकर नामतत्त्व है। इस नामरूप से ही दुनिया की उत्पत्ति है। यही नामरूप का सम्बन्ध लेकर मग्न है हमारा दर्शन और विज्ञानशास्त्र। वेदान्त का प्रातिभासिक और व्यावहारिक तत्त्व के साथ इस नामरूप का सादृश्य है। रूपतत्त्व मुझको चारों तरफ़ से घेरे हुए है। इस रूपतत्त्व से ही हमारे चिन्ता, भावना, धारणा, ध्यान आदि उत्पन्न होते हैं। हमारा परमात्मा इस सुन्दर रूप के भीतर से अगर हमारे पास न आता, हमको न बुलाता तो हमारे लिए भगवत्-ध्यान और भगवत्-प्राप्ति असम्भव हो जाती। उनके रूप से विवश होकर, उनके पास आकृष्ट होना बहुत ही सौभाग्य माना जाता है। प्रकृति पुरुषचैतन्य के सान्निध्य से विभिन्न परिणति प्राप्त करती है। पुरुषचैतन्य भी प्रकृति के साथ उनके विभिन्न तत्त्व में प्रवेश करके आत्मप्रकाश करता है। प्रकृति की यह विभिन्न परिणति लेकर है हमारा रूपतत्त्व, और इस विभिन्न तत्त्व में पुरुषचैतन्य का लीलाभाव लेकर है हमारा नामतत्त्व। इसलिए नामतत्त्व जड़ जगत् का अवलम्बन करके मन की मदद से पुरुषचैतन्य के, (परमात्मा के) पास जाने का सुन्दर उपाय है। साधन-भजन का उद्देश्य जब भगवत्-दर्शन और दुनिया के हर तत्त्व में परमात्मा की लीला की अनुभूति प्राप्त करना है तब साधनराज्य में नाम की महिमा अतु-

लनीय है इसलिए कहा जाता है कि कलि के जीव को नाम छोड़कर गति नहीं है। "नाम ही मुक्ति, नाम ही गति, नाम में पूर्ण कामना।" नाम परमात्मा का वाचक है। नाम व्यष्टिभाव से अपने हर तत्त्व में, समष्टिभाव से दुनिया के हर तत्त्व में, परमात्मा की लीलादर्शन में मदद देता है। परमात्मा दुनिया के किस तत्त्व में कैसे अवस्थित है, कैसे लीला करता है नाम-तत्त्व से यह सब मालूम हो जाता है। नाम और नामी को अभेद जानकर जप करना चाहिए। भगवत्-तत्त्व अर्थात् नामी ही दुनिया के विभिन्न तत्त्व में लीला कर रहा है। जीव-जगत् नामी का शरीर है। इस तत्त्व की तरफ़ ख़याल रखकर जप करते-करते परमात्मा में समाहित होना ही नामजप का उद्देश्य है।

व्यष्टि-समष्टि-तत्त्व

व्यष्टि का अर्थ है अलग-अलग हिस्सा। समष्टि का अर्थ है सब व्यष्टि-अंशों की मिलित अवस्था। एक-एक बूँद पानी लेकर होता है व्यष्टि-तत्त्व। समुद्र का, दुनिया का सारा पानी लेकर होता है समष्टि-पानी-तत्त्व। बन का एक-एक वृक्ष लेकर होता है व्यष्टि-वृक्ष-तत्त्व। बन के सारे वृक्ष लेकर होता है समष्टि-वृक्ष-तत्त्व। राम, श्याम आदि एक-एक आदमी को लेकर होता है व्यष्टि-मनुष्य-तत्त्व, और दुनिया के सब आदमियों को लेकर होता है समष्टि-मनुष्य-तत्त्व। व्यष्टि अलग-अलग हिस्से को (Individual parts) प्रकाश करता है, और समष्टि-तत्त्व सबके मिलित तत्त्व (Collective whole) को प्रकाश करता है।

हिन्दू-साधन-प्रणाली के भीतर व्यष्टि-समष्टि-तत्त्व का एक सुन्दर आभास मिलता है। दुनिया का हर तत्त्व और हर परमाणु एक दूसरे से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखता है। एक बिला दूसरे की मदद के चल नहीं सकता। हम एक दूसरे के पास हमेशा ऋणी हैं। कोई चीज़ भी हमसे अलग नहीं है। यह सब हमारे परमात्मा की विभूति हैं, उन्हीं की सन्तान-सन्तति हैं। लड़के-लड़की को तकलीफ़ देकर कोई मा-बाप को सुखी नहीं कर सकता। इसीलिए जीव की सेवा द्वारा शिव की सेवा की तरफ़ ज़्यादा ख़याल रखना चाहिए। धर्म का सच्चा स्वरूप यही है कि अपने सुख की तरफ़ नज़र न रहे। परमात्मा की

ख़ुशी की तरफ़ ज़्यादा ख़याल रक्खे। अपने आराम की तरफ़ नज़र रखने का नाम ही है काम, इसलिए उसको त्याग करना चाहिए। हमारा परमात्मा सर्वव्यापक है। "वासुदेव: सर्वमिति" अर्थात् परमात्मा ही सब कुछ है। "नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वमूर्ते" अर्थात् मैं जगत्व्यापी विश्वमूर्ति को नमस्कार करता हूँ। "विश्वरूप: विश्वनाथ: विश्वजीवविग्रहम्" अर्थात् हे परमात्मा ! तुम विश्वरूप, विश्वनाथ, विश्वजीवरूप में विराजमान हो। यह सब हमारे स्तव के मन्त्र हैं। "जितो जितो देखो श्याममयी है" "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ चित्त जाता है वहाँ ही परमात्मा को देखते रहो। यह सब हमारे गुरुवचन हैं। "त्रिभुवन है मूर्ति माई की, क्यों नहीं देखे चित्त हमारा" यह है हमारा भजन। सब जगह ब्रह्म का दर्शन, ब्रह्म-उपलब्धि, ब्रह्म-सेवा है हमारे जीवन का लक्ष्य। जितने विभूतिमय पदार्थ हैं उन सबमें हम ढूँढ़ते हैं परमात्मा का अवतार। हम तर्पण के पानी से सब जीवों की तृप्ति करने में दीक्षित हैं। पंच महायज्ञ आदि नित्यकर्म द्वारा सब जीवों की सेवाव्रत में हम अभ्यस्त हैं। हम परमात्मा को अर्पण किया हुआ अन्न अतिथि और जीव-जन्तु को दान करके जो कुछ बाक़ी रहे सिर्फ़ उसी को ग्रहण करने में आदिष्ट हैं। हम परोपकार नहीं मानते क्योंकि कोई हमारा पर नहीं है। सब ही हमारे परमात्मा की विलासविभूति, लीलास्वीकृत विग्रह हैं। हाय ! ऐसे उदार जीवन्त धर्म की आज ऐसी दुर्दशा। अद्वैतवाद की जगह पर आ गया भेदभाव। सर्वत्र भगवत्-दर्शन, सर्वत्र भगवत्-ध्यान, सब जीवों के भीतर से उनकी सेवा हमारी साधना का सार तत्त्व है।

सत्यप्रतिष्ठा, प्राणप्रतिष्ठा, आनन्दप्रतिष्ठा

सत्य शब्द का अर्थ है छः प्रकार के विकार से वर्जित नित्य तत्त्व। "जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति" अर्थात् जन्म लेना, वर्तमान रहना, बढ़ना, नीचे गिरना, क्षय होना, नाश होना आदि छः विकार जिसको छू नहीं सकते, जो तीनों काल में एक ही भाव से अवस्थित है, जिसके अस्तित्व के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता, जो चरम नित्य

तत्त्व है वही सत्य है। प्रतिष्ठा का अर्थ है स्थिति। हमारा चित्त जब सत्य-तत्त्व में स्थिर हो जाता है, तब मैं हो जाता हूँ सत्यप्रतिष्ठ। जब हमारी चक्षु आदि इन्द्रियाँ सब वस्तुओं के भीतर से सत्य को ढूँढ़ेंगी और सत्य का दर्शन करेंगी, हमारा मन जब सत्य के अलावा और कुछ न सोचेगा, सारी दुनिया के सब पदार्थों में हम जब सत्य की विभूति उपलब्धि करेंगे, उसके अलावा और कुछ न देखेंगे, न सुनेंगे, न स्पर्श करेंगे, न चिन्तन करेंगे, जब हम हर वक्त उसी के ध्यान में विभोर रहेंगे तभी हम हो जायेंगे सत्यप्रतिष्ठ। जब हमारे कान सब शब्दों के भीतर से सत्यस्वरूप श्रीभगवान् के मधुर शब्द के सिवा और कुछ नहीं सुनेंगे, जब नेत्र हमारे उनके भुवनमोहन रूप के अलावा और कुछ न देखेंगे, जब खाल हमारी उनका सुखमय स्पर्श के सिवा और कुछ स्पर्श नहीं करेगी, जब हमारी जीभ उनके अमृतरस के अलावा और कुछ पान नहीं करेगी, जब हमारी नाक उनके गात्रगन्ध के सिवा और कुछ नहीं सूँघेगी, जब हमारा मुख सिवा उनके और किसी की बात नहीं करेगा, जब हमारे चरण सिवा उनके रास्ते के और किसी रास्ते पर नहीं चलेंगे, जब हमारा मन सिवा उनके और किसी की चिन्ता नहीं करेगा, जब चित्त हमारा दुनिया का सब संस्कार छोड़कर उनके ध्यान में तन्मय हो जायेगा, सर्वत्र उनके दर्शन, ध्यान व उपलब्धि में जब हम समाहित हो जायेंगे, तभी हमको सत्यप्रतिष्ठ समझना चाहिए। साधक गोविन्ददास ने राधा रानी के सत्यप्रतिष्ठभाव को ऐसा वर्णन किया है:—

रूपे भरल दिठि, सोङरि परश मिठि
पुलक न तेजइ अंग।
मोहन मुरली रवे श्रुति परिपूरित
ना शुने आन परसंग॥
अब कि करबि उपदेश।
कानु अनुरागे मोर तनु मन मातल,
ना शुने धरम लवलेश।
नासिका सो अंगेर सोरभे उनमत,

बदन नालय आन नाम।
नव नव गुणगणे बांधल आमार मने
धरम रहल कोन ठाम॥
गुरुजन गरजने गृहपति तरजने
को जाने उपजये हास।
ताहे एक मनोरथ यदि हय अनरथ
पूछत गोविन्ददास॥

ब्रह्म द्वारा यानी ब्रह्म में जीव-जगत् सृष्ट, परिणत या विवर्तित है। इसमें ब्रह्म ही एक नित्य सत्य तत्त्व है और जीव-जगत् उनका नामरूप है। सत्य रस्सी के समान है और नामरूप उसमें कल्पित साँप है। सत्य सागर है, नामरूप उसमें कल्पित लहर है। सत्य सोना है, नामरूप उसमें बाली, कंगन आदि जेवर हैं; सत्य अमृतस्वरूप है, नामरूप उसमें कल्पित जन्म, मृत्यु आदि विकार हैं। नामरूप सत्य को छोड़कर रह नहीं सकता। सत्य अनित्य कल्पित नामरूप के भीतर का नित्य सार-तत्त्व है। कल्पित साँप के भीतर असल में रस्सी है, साँप सिर्फ दिखाई देता है। शास्त्र और गुरुवचन में विश्वास करके हिम्मत के साथ उस साँप को आलिंगन करो तब देखोगे कि तुमने रस्सी को ही आलिंगन किया है। मा-बाप, पति-पत्नी, लड़का-लड़की, दोस्त-दुश्मन, पत्र-पुष्प आदि सब अनित्य नामरूप के भीतर तुम्हारा सत्यस्वरूप परमात्मा ही वर्तमान है। परमात्मबुद्धि से इन सबका दर्शन करो, ध्यान करो और सेवा करो तो तुम्हारी ज़िन्दगी सार्थक हो जायेगी। इन सबके भीतर से ही परमात्मा का दर्शन हो जायेगा। जगत्-जीव तुम्हारे श्रीभगवान् का शरीर है। वह सबके भीतर आत्मारूप से वर्तमान हैं। सबके भीतर से उनका दर्शन और ध्यान ही हो जायेगा तुम्हारी साधना। "यो मां पश्यति सर्वत्र" अर्थात् जो सब घट-घट में मुझे ही देखता है, "वासुदेवः सर्वमिति" अर्थात् यह सब वासुदेव ही हैं, इत्यादि वचन इस भाव का ही प्रकाश करते हैं। सब रूपों, सब नामों और सब भावों के भीतर से भगवत्-उपलब्धि की कोशिश करते रहो। पहले विश्वास करो कि परमात्मा है। अनुभव करो कि

वही सत्यस्वरूप तुम्हारे सामने मौजूद है। उसके बाद उनसे कहो कि हे परमात्मा! तुम जब सर्वव्यापक हो तब ज़रूर इन सबके भीतर भी हो, एक बार कृपा करके इन सबों के भीतर से मुझे दर्शन दो, फिर मुझमें कोई सन्देह न रहेगा, तुमको नमस्कार है। मन की सब वृत्तियों और भावों के भीतर से उनको ढूँढ़ते रहो। जो रूप, जो नाम, जो भाव तुमको अच्छा मालूम हो उसी के भीतर से उनको ढूँढ़कर पा लेने की कोशिश करो। सोते वक़्त अपने बिस्तर में उनका ध्यान करते-करते जैसे माँ की गोद में बच्चा लेट जाता है वैसे ही उनकी गोद में समाहित हो जाओ। रोज़ दीनभाव से उनको बुलाओ और उनको देखने की कोशिश करो। चित्त शुद्ध और शान्त होने पर उनका दर्शन मिल जायेगा। तुम्हारी ज़िन्दगी सफल हो जायेगी। तब छोटे लड़के-लड़की को देखकर बालगोपाल-कुमारीभगवती, मा-बाप के भीतर से अन्नपूर्णा-विश्वनाथ, पति-पत्नी के भीतर से कृष्ण-राधा, राम-सीता, शिव-दुर्गा, सब जीवों के भीतर से शिवजी का दर्शन, ध्यान व सेवा सहज हो जायेंगे। तब दुनिया स्वर्गराज्य में परिणत हो जायेगी, तुम सत्य में प्रतिष्ठित हो जाओगे, असत्य तुम्हारे पास से दूर भाग जायेगा। अंगन्यासक्रिया इस उपलब्धि में सहायक होती है।

प्राणप्रतिष्ठा

प्राणप्रतिष्ठा का अर्थ है प्राण में स्थिति प्राप्त करना, सर्वत्र प्राणमय की लीलादर्शन करते-करते प्राण-शक्ति की अनुभूति में स्थित रहना। प्राण परब्रह्म है। प्राण परमात्मा की ऐसी शक्ति है जिससे दुनिया का सृष्टि, स्थिति, लय साधित होता है। जीव-जगत् उसी महाप्राण की घनीभूत मूर्ति है। हमारा व्यष्टि-प्राण उसी समष्टिगत महाप्राण का अंश है, उसी प्राणसागर की एक-एक लहर है। वही मेरे एक बूँद ख़ून के भीतर रहकर मेरे इस शरीर को ऐसा मज़बूत, परिणत और सब काम के क़ाबिल बनाकर इसके भीतर बैठकर सारे काम कर रहे हैं। मेरे इस शरीर की परिणति और मन की सारी वृत्तियाँ उस प्राण का ही खेल हैं। दुनिया

के सब कामों के भीतर हम उस प्राणशक्ति की लीलादर्शन करके अहंकार से मुक्त होकर सर्वत्र परमात्मा की लीलादर्शन करने का सामर्थ्य लाभ करेंगे। तब मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ इत्यादि शब्द मेरे मुख से नहीं निकलेंगे, मुझे कहना पड़ेगा कि मेरा परमात्मा मेरे भीतर बैठकर यह सब काम कर रहा है। करन्यासक्रिया प्राणप्रतिष्ठा में मदद देती है।

आनन्दप्रतिष्ठा

आनन्दमय परमात्मा से इस दुनिया का सृष्टि, स्थिति, लय साधित हुआ है हमारे सब आनन्द उस ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं। वह ब्रह्मानन्द ही हमा मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के भीतर से आने के वक्त उन सबके गों से रञ्जि होकर विषयानन्दरूप से प्रतीत होता है। सब आनन्द ही उस ब्रह्मानन्द क विभूति हैं। इन सब विकृत विषयानन्दों के भीतर से कामना, वासना आ विकृति दूर करने से यह सब विषयानन्द ही ब्रह्मानन्द में पर्यवसित हो जायेंगे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि सब सम्बन्ध, और इन स सम्बन्ध-जनित आनन्दों के भीतर से आसक्ति, संस्कार व स्वार्थ की बद दूर करने से और इन सबको शुद्ध और पूर्णता प्राप्त करने से ही यह स स्वर्गीय दास्य आदि भावों में परिणत हो जायेंगे। तब समझ में आयेगा यह सब आनन्द ब्रह्मानन्द का ही प्रकाश है। सृष्टि की लीला के भीतर परमात्मा का आत्मप्रकाश और आनन्द प्रचार करने की इच्छा। उस आनन्द में यह दुनिया प्रतिष्ठित है, तब सब आनन्दों के भीतर से ब्रह्मान को अनुभव करके, सब आनन्दों को ब्रह्मानन्द में परिणत करके सब घट-घ में आनन्दमय की लीला दर्शन करते-करते तुम आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाओगे।

मैं परमात्मा में प्रतिष्ठित और उनकी शक्ति से परिचालित हूँ। वह मे सुख-शान्ति व आनन्द का मूल कारण हैं। मेरी जो कुछ स्थिति, क्रिय और आनन्द हैं वह सब परमात्मा को लेकर ही हैं। हमको ज़िन्दा रखे बिन ठीक रास्ते पर चलायें बिना, हमको पूर्णानन्द में मग्न देखे बि

उनका काम नहीं चलेगा, और उनको विश्राम नहीं मिलेगा। इस विश्वास को हर वक्त जाग्रत् रखना ही सत्यादि प्रतिष्ठा का प्रधान मतलब है।

पूजा का अंगविभाग

पूजा साधक और सिद्ध-अवस्था-भेद से दो प्रकार की है। सिद्ध-अवस्था की पूजा भगवद्भाव में मग्न होकर भगवत्-लीला में सहायक होना । भगवत्-लीला-आस्वादन करना है। साधक-अवस्था की पूजा-प्रणाली इस सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति के लिए है। इस पूजा के विषय में ही आलोचना की जायेगी। परमात्मा में प्रीति और उनका प्रिय कार्य साधन करना ही जा है। जिनके ऊपर हमारा प्रेम है हम उसी के मुआफ़िक़ हो जाते हैं। नके भाव से भावित रहना, उनका प्रिय कार्य साधन करना स्वाभाविक । असल में प्रीति रहने से प्रिय कार्य-साधन आ जाता है। हमारे देश की चलित पूजा में इस प्रीति की तरफ़ ही ज़्यादा लक्ष्य रक्खा है। इस पूजा में ीन हिस्से हैं—शुद्धि, ध्यान और उपलब्धि। संकल्प, स्वस्तिवाचन, जल-द्धि, आसनशुद्धि, भूतापसरण व भूतशुद्धि, शुद्धितत्त्व में आ जाते हैं। ामतत्त्व, स्वरूपतत्त्व, भगवत्-तत्त्व ध्यान के विषय में हैं। न्यास, उपचार, मर्पण, पंचदेवता, गुरु और इष्ट की पूजा, जप, आत्मनिवेदन, हवन और ासर्जन उपलब्धि के अन्तर्गत हैं। प्राचीन पूजा के सब अंगों की तरफ़ ज़र रखकर उन सब तत्त्वों को वर्तमान देश-काल-पात्र के अनुसार हरएक ग्रहणयोग्य करने की तरफ़ कोशिश की गई है, और सब सम्प्रदायों की ाधन-प्रणाली के भीतर जो सुन्दर सादृश्य है उसका भी आभास दिया ा है। साधक अपनी रुचि के अनुकूल श्लोकविशेष का अवलम्बन रके अपने गुरु के उपदेश के मुआफ़िक़ पूजा कर सकता है। साधारण चलित पूजा का एक नमूना दिया जाता है।

संकल्पः—हर एक काम का एक मतलब होता है। साधना उस मतलब ो पूरा करने का सहज, सुन्दर और स्वाभाविक उपाय है।

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह चार क़िस्म के आदमी परमात्मा का भजन करते हैं। इनमें से पहले तीनों का मतलब आसानी से समझ में आ जाता है। जब तक अभाव मालूम होता है तब तक उसके पूर्ण करने की इच्छा स्वाभाविक है। कुछ माँगना है तो परमात्मा से ही माँगो। हम मानें या न मानें इसमें सन्देह नहीं कि हमारे भीतर कामना, वासना, आसक्ति हैं। कामना से छुटकारा पाना ज़रूरी है। निष्काम भक्त परमात्मा से कुछ नहीं माँगता। माँगने से पहले ही जो कुछ उन्होंने दिया है और अब भी दे रहे हैं उसका स्मरण करके उसका चित्त कृतज्ञता में बिक जाता है। अगर उसमें कामना रहे तो यही एक कामना है कि हे परमात्मा! तुममें हमारी अहैतुकी, अव्यभिचारी भक्ति क़ायम रहे। हमारी ज़िन्दगी में तुम्हारी इच्छा सफलता प्राप्त करे।

स्वस्तिवाचनः—स्वस्तिवाचन शान्ति की प्रार्थना है। यह शान्ति सिर्फ़ अपनी नहीं है बल्कि सब जीवों की। यह शान्ति निर्भर करती है अपने अहंकार के ऊपर नहीं, बल्कि परमात्मा के ऊपर और उनके विभूतिस्वरूप देवताओं के ऊपर। स्वस्तिवाचन में शान्ति और उद्देश्यसिद्धि के लिए परमात्मा के पास, इन्द्र, वरुण आदि सब देवताओं के और सब जीवों के पास प्रार्थना की जाती है कि हम सब जीव के ऋणी हैं; जब तक सब जीव हमको मुक्ति नहीं देंगे तब तक परमात्मा से मिलने की उम्मीद नहीं है।

भूतापसरणः—पंचभूत और उनका तैयार किया हुआ जीव-जगत् कभी कभी साधनभजन में विघ्न डाल देता है। इसलिए भूतों से मुक्ति पाने के लिए इन सबसे ज़्यादा भूतनाथ से कृपा-प्रार्थना की जाती है।

"अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः। ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥" दुनिया के विघ्नकारी सब भूत शिव के आदेश से विनाश को प्राप्त हो जायें। कोई-कोई साधक 'नश्यन्तु' (नाश हो जायें) की जगह पर 'शुद्ध्यन्तु' (शुद्ध हो जायें) पाठ करते हैं। दुश्मन को नुक़सान पहुँचाने की प्रवृत्ति दूर होकर दुश्मन मित्र बन जाय। किसी को दुश्मन ख़याल न किया जाय, यह भाव ज़्यादा सुन्दर है।

उपकरणशुद्धिः—पूजा के लिए जरूरत होती है देह की व चित्त की शुद्धि, और पूजा का उपकरण अर्थात् परमात्मा को निवेदन करके जो कुछ चीज सब जीवों को प्रसादरूप से बाँट दिया जाता है उसकी शुद्धि। पहले पुष्प व खाने की चीजें वगैरह देखना चाहिए कि शुद्ध हैं या नहीं। उसके बाद परमात्मा का नामस्मरण करने से वह और भी शुद्ध हो जाते हैं।

गुरु की पूजाः—गुरु का ध्यान करना चाहिए और उनके पास उपचार समर्पण करके उनकी पूजा करनी चाहिए। मतलब यह है कि गुरु के गुण और कर्म का ध्यान करते-करते गुरु-तत्त्व में समाहित होकर गुरुभावापन्न हो जाना और अपने आपको गुरु के सब गुणों से भूषित करना। शास्त्रविहित प्रणाली के अनुसार गुरु की पूजा करनी चाहिए। उससे गुरु में तन्मयता प्राप्त हो जायेगी, साधक गुरु के समान हो जायेगा।

पंचदेवता की पूजाः—देवता भिन्न-भिन्न तत्त्वों में भिन्न-भिन्न भावों में ब्रह्मचैतन्य का प्रकाश है। हमारे भगवान्, हमारे इष्टदेव, हमारे पंच तत्त्वों में, हमारे पंच कोशों में प्रकट होकर कैसे हमारे कल्याण और शान्ति की व्यवस्था करके हमारा जीवन सफल कर रहे हैं उसकी उपलब्धि ही पंच देवता की पूजा का मुख्य उद्देश्य है। हमारे इष्टदेव हमारे मूलाधार में रहकर कैसे कौन काम साधन कर रहे हैं उसकी उपलब्धि गणेशपूजा से मालूम हो जाती है। हमारा इष्ट मणिपूर में अवस्थित रहकर कैसे हमारी जिन्दगी क़ायम रखकर हमको शान्ति देता है, सूर्यदेव की पूजा से वह तत्त्व मालूम हो जाता है। ऐसे ही अनाहतचक्र में विष्णुतत्त्व की, विशुद्धाख्यचक्र में शिवतत्त्व की, आज्ञाचक्र में शक्तितत्त्व की, सहस्रार में इष्टतत्त्व की अवस्थिति व कार्यप्रणाली मालूम हो जाती है। साधक अपने-अपने इष्टतत्त्व को सहस्रार में अवस्थित खयाल करके दूसरे चक्रों में पंच देवताओं की स्थिति और कार्यप्रणाली मालूम कर लेता है। इसलिए किस तत्त्व में कौन देवता है इसमें मतभेद दिखाई देता है। साधक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पंचदेवता की पूजा करनी चाहिए।

इष्ट की पूजाः—अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार इष्टदेव का ध्यान

और पाद्य आदि उपचार से स्थूल भाव में और मानसिक उपचार से सूक्ष्म भाव में पूजा करनी चाहिए।

बोधन, प्राणप्रतिष्ठा, आवाहनः— बोधन शब्द का अर्थ है जगाना। परमात्मा हमेशा जाग्रत् है। उनको क्या जाग्रत् करना। जाग्रत् करना चाहिए अपने आपको। जैसे अपनी आँख बन्द करने से सारी दुनिया अँधेरी मालूम होती है, वैसे ही हम निद्रित हों तो सब दुनिया बल्कि परमात्मा तक भी सोये हुए मालूम होते हैं। हमारे शरीर की सुस्ती दूर करके, चित्त की अज्ञानता और संस्कार दूर करके, हमारे भीतर के सब तत्त्वों को भगवत्-अनुभूति के योग्य करना ही असल बोधनतत्त्व है। तब मालूम होगा कि परमात्मा है और जाग्रत् है। वह जीव का कल्याण करने की कोशिश कर रहा है। इसी का नाम बोधनतत्त्व है।

प्राणप्रतिष्ठा शब्द का अर्थ यही है कि हमारी उपास्य मूर्ति व हमारा इष्ट मिट्टी की मूर्ति या कागज़ की तसवीर नहीं है। ध्यान के द्वारा उनमें भगवत्-तत्त्व का चिन्तन करके उनको जीवन्त समझना चाहिए। अनुभव करना चाहिए कि हमारा इष्ट जीवन्त सत्यरूप से हमारे सामने उपस्थित है, हमारे सब काम देख रहा है, हमारे चित्त के सब भावों को जानता है और वह हमारे भीतर हमको चलाता है। इष्टमन्त्र, उसका अर्थ और इष्टमन्त्र का चैतन्य इन तीनों को मिलाकर इष्ट की प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिए। इष्टमन्त्र चैतन्य हो जाने पर समझ में आवेगा कि हमारा इष्ट एक महती प्राणशक्ति है जिससे जगत्-चक्र सुन्दर भाव में चल रहा है। प्राणप्रतिष्ठा के वक्त अपने भीतर ब्रह्मचैतन्य को जाग्रत् देखकर उस चैतन्य को इष्टमूर्ति में आरोप करके इष्टमूर्ति को ब्रह्मस्वरूप चिन्तन करना चाहिए।

आवाहन शब्द का अर्थ है बुलाना। जो सर्वव्यापी हैं उनको बुलाने की क्या जरूरत है। उनको बुलाने का अर्थ है कि वह पास ही हैं इस बात को अनुभव करना, अपने को शुद्ध शान्त और समाहित करके परमात्मा की कृपा की सहायता से सामने अवस्थित इष्टतत्त्व के भीतर भगवत्-तत्त्व को प्रकट करना व प्रकट भाव में दर्शन करना। आवाहन परमात्मा से प्रार्थना है कि हे परमात्मा! तुम मेरा अन्धकार दूर करके हमारी इष्टमूर्ति के भीतर से मुझे दर्शन दे दो। बोधन,

प्राणप्रतिष्ठा और आवाहन के लिए योग की विशेष-विशेष क्रियाएँ बताई गई हैं।

न्यास

'नि' पूर्वक 'अस्' धातु से न्यास शब्द बना है। "अस क्षेपणे स्थापने च" 'अस्' धातु का अर्थ फेकना और स्थापन करना है। जिसके लिए जो जगह नहीं है वह अगर ज़बरदस्ती उस जगह पर दखल करे तो उस स्थान से उसको हटाकर असल मालिक को उसी जगह पर बैठा देने का नाम है 'न्यास' क्रिया। जैसे स्वर्ग इन्द्र का राज्य है; महिषासुर अपनी ताक़त से वहाँ का मालिक बन गया। "स्वर्गात् निराकृता देवा इन्द्रोऽभूत् महिषासुरः" हमारे इस शरीर और उसके भिन्न-भिन्न सारे यन्त्रों को मैंने सृष्ट नहीं किया। इनके ऊपर मेरा कोई इख़्तियार भी नहीं है। मरने के वक़्त यह मेरे साथ भी नहीं जायेंगे। इसलिए मैं इनका मालिक नहीं हूँ। मालिक इनका परमात्मा ख़ुद है। उन्होंने कृपा करके यह शरीर व सब नातेदार व धन-दौलत और सब आराम के सामान सिर्फ़ भोग करने के वास्ते मुझे दिये हैं। इस शरीर को व सब नातेदार, मकान आदि को मेरा कहना बड़ी भूल है। तब भी मेरे भीतर का अहंकाररूपी महिषासुर सिर्फ़ ताक़त से इसका मालिक बनकर बैठा है। यह सब मेरे साथ न आये हैं न जायेंगे। यह सब परमात्मा के हैं। 'मेरा मेरा' भाव दूर करके सब परमात्मा का है, यह भाव लाना ही न्यास-क्रिया का मतलब है। न्यासक्रिया के मन्त्र में हमारे शरीर के एक-एक अंग में एक-एक देवता का अवस्थान लिखा है। देवता परमात्मा की एक-एक शक्ति है। इसका मतलब यही है कि वह सब अंग हमारे नहीं हैं बल्कि परमात्मा के हैं। अंग का अर्थ शरीर है। अंगन्यास का अर्थ है देह के सब तत्त्वों का न्यास, इन सबके ऊपर कर्तृत्व-अभिमान त्याग करना। यह सब हमारे नहीं हैं। हमारे प्यारे परमात्मा के हैं। चूँकि उनके हैं इसलिए मुझे सबको प्रेम से देखना चाहिए, प्रेम से सेवा सबकी करनी चाहिए। लेकिन इनमें आसक्ति रखना, इनको अपना समझना अनुचित है। अंगन्यास से हम अनासक्त रहकर भी प्रेमिक बन सकते हैं।

करन्यास :—

हमारा यह शरीर एक परमाणु के बराबर सूक्ष्म था। कैसे और किसकी ताक़त से यह ऐसा बड़ा व मज़बूत और सब काम करने के लायक़ बन गया, वह मैं ही नहीं बल्कि ज्ञानी और विज्ञानी भी नहीं बता सकते। इस शरीर के कल-पुर्ज़े, स्नायु, शिरा, इन्द्रियादि और इन सबकी कार्यप्रणाली समझने में बड़े-बड़े पण्डित भी हार मान गये हैं। ख़ून कैसे अन्नादि से बन जाता है, यन्त्रादि कैसे सब काम कर रहे हैं, मैं नहीं जानता, और न मेरा कोई इख़्तियार इन पर है। मैं नहीं बता सकता कि मेरे संस्कार कहाँ से आये और मुझे कहाँ ले जा रहे हैं। नदी में बहता हुआ फूल अगर कहे कि वह पानी को चला रहा है, क़लम अगर कहे कि हाथ से वह लिखवा रहा है, तब जैसी हँसी आती है वही हँसी परमात्मा को मेरा कर्तृत्वाभिमान देखकर आती है। सच्चा ज्ञानी पुरुष इसीलिए कहता है कि काम मैं नहीं करता बल्कि मेरे भीतर बैठकर परमात्मा ही सब कर रहा है, मैं कर्ता नहीं हूँ, केवल यन्त्रमात्र हूँ। इसलिए गीता में अर्जुन को सिर्फ़ निमित्तमात्र कहा गया है। वृथा कर्तृत्वाभिमान को दूर करके अंहकार के हाथ से कर्तृत्वबुद्धि छीनकर असल कर्ता जो परमात्मा है उनके ऊपर अर्पण करना ही करन्यास-क्रिया का मतलब है। अंगन्यास व करन्यास से गीता का "निर्ममो निरहंकारः" भाव अपने आप आ जाता है। बड़ा अफ़सोस है कि न्यासक्रिया अब केवल मन्त्र उच्चारण करने और अँगुली चलाने पर ही रह गई है।

व्यापकन्यास :—

सब भूतों में सर्वव्यापी परमात्मा की मौजूदगी व काम करने का तरीक़ा जानकर आनन्द प्राप्त करना, आनन्दमय हो जाना ही व्यापकन्यास का मतलब है। जीव-जगत् परमात्मा की मूर्ति, परमात्मा का विकाश है। सबके भीतर से परमात्मा की लीलादर्शन करने की योग्यता इस क्रिया से हासिल होती है। व्यापकन्यास करनेवाला साधक किसी फूल या बालक को देखकर

खयाल करता है कि मेरी आँख सुन्दर रूप देखना चाहती है, इसलिए हे परमात्मा ! तुम ही यह रूप धारण करके मेरे पास आये हो। सर्वत्र परमात्मा की लीलादर्शन करना, सबके भीतर से परमात्मा का ध्यान व उनकी सेवा करने का अधिकार व्यापकन्यास से हासिल होता है।

उपचारसमर्पण :—

उपचार शब्द का अर्थ है पूजा की सब सामग्री यानी जो-जो चीज जो-जो भाव पूजा में इस्तेमाल किये जाते हैं। हम पूजा करते हैं श्रेष्ठ आदमी की, श्रेष्ठ तत्त्व की, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की। "गौरवित-प्रीति-हेतु-क्रिया पूजा।" श्रेष्ठ की नक़ल करके श्रेष्ठता प्राप्त करने की कोशिश ही पूजा है। हम भूल जाते हैं कि यही असल पूजा है। रुपया का पुजारी, संस्कार का पुजारी, बुरी आदत का पुजारी, कामना-वासना-आसक्ति तक के पुजारी भी जब साधक भक्त की, आदर्श मनुष्य की पूजा की हँसी उड़ाते हैं तब दुख होता है और हँसी भी आ जाती है।

हमारे इस्तेमाल में जो-जो चीजें आती हैं वह सब ही पूजा का उपचार हैं। हम लोग अपने खयाल के मुताबिक़ ही परमात्मा की पूजा भी करने के लिये मजबूर हैं। हमको खाने की जरूरत होती है, इसीलिए भगवान् को भी खाना खिलाते हैं, हमारे हाथ-पाँव हैं इसीलिए भगवान् के हाथ-पाँव की भी कल्पना करते हैं। पुराने जमाने में पूजा का उपचार असल जरूरत के मुताबिक़ हुआ करता था। हम लोग यह नहीं सोचते कि पाद्य, अर्घ्य आदि पाँच, दस व सोलह उपचार अपनी जरूरत के मुताबिक़ बदलते जाते हैं। हमारे स्नान का पानी व खाने-पीने की चीजें, खुशबूदार और खूबसूरत चीजों को परमात्मा के निवेदन करके सब मिलकर उस प्रसाद को बाँट लेना ही उपचार-समर्पण था। पूजा का आधिभौतिक उपचार है पाद्य, अर्घ्य आदि, आधिदैविक उपचार है चित्त का सद्भाव, सबके ऊपर आध्यात्मिक उपचार है हमारा जीवात्मा। इसलिए कहा जाता है "पूजा आत्मनिवेदनम्" अर्थात् आत्म-निवेदन ही श्रेष्ठ पूजा है। उपचार-समर्पण के वक़्त इन तीनों के तरफ़ नजर

रखना चाहिए। अपने-अपने अधिकार और रुचि के मुताबिक़ उपचार समर्पण करना चाहिए। थोड़ा-सा आगे बढ़ने पर जब परमात्मा का सर्वव्यापक रूप अनुभव में आता है तब लड़का-लड़की के भीतर बालगोपाल-कुमारी भगवती-रूप, मा-बाप के भीतर अन्नपूर्णा-विश्वनाथरूप, पति-पत्नी के भीतर कृष्ण-राधा रामसीता-रूप व सारे जीव, शिव का जीवन्त विग्रह मालूम होने लगेगा। तब सब नातेदार, बन्धु-बान्धव व सब जीव को उन सबके जरूरत की चीज़ अर्पण करने के भीतर से भी उपचारसमर्पणक्रिया साधित हो जायेगी। तब सब काम और विषयभोग पूजा में परिणत हो जायेंगे। इस-लिए कहा जाता है "पूजा ते विषयोपभोगरचना"। तब खाना-पीना, घूमना सब ही पूजा हो जाते हैं। इसके ऊपर जब उठें तब प्रकृतिदेवी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि उपचार से कैसे परमात्मा की पूजा करती हैं समझ में आ जाता है। तब साधक का सब दर्शन भगवत्-दर्शन में, सब चिन्तन भगवत्-ध्यान में, सब काम भगवत्-पूजा में परिणत हो जाता है। गीता के "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" श्लोक का मतलब तब समझ में आ जायेगा। परमात्मा सर्वव्यापी, सब भूतों का अन्तरात्मा है, सीमाबद्ध रूप के भीतर से असीम अरूप तत्त्व में, उपचार-समर्पण के भीतर से जीवसेवाव्रत में ले जाने का ऐसा उपाय और कोई भी नज़र में नहीं आता है। जीव परमात्मा का जीवन्त विग्रह है। जीव के भीतर हमारा प्रियतम परमात्मा वर्तमान है। जीव की सेवा ही शिव की सेवा है। यह तत्त्व हम मूर्ति के भीतर से अमूर्त की पूजा में देखते हैं। सिद्ध-अवस्था में सब जीवों के स्नान के भीतर से परमात्मा का स्नान, सब जीवों को खिलाने के भीतर से परमात्मा को खिलाना, सब जीवों के कल्याण और तृप्ति के भीतर से परमात्मा की सेवा हो जाती है। तब हमारा देखना भगवत्-दर्शन में, हमारी जीवसेवा भगवत्-सेवा में, हमारी जीव-हित चिन्ता मैत्री-भावना में, भगवत्-ध्यान में परिणत हो जाती है। लड़का-लड़की की सेवा करने से मा-बाप की सेवा हो जाती है। जीव-सेवा ही शिव-सेवा है। उपचार-समर्पण से हमको इस बात की शिक्षा मिलती है, वरना ब्रह्माण्डभाण्डोदर परमात्मा को हम क्या दे सकते हैं, और हम उनकी क्या सेवा कर सकते हैं।

ध्यान

ध्यान शब्द का अर्थ है तन्मय होकर चिन्तन करना। चित्त को किसी निर्दिष्ट स्थानविशेष में, तत्त्वविशेष में या व्यक्तिविशेष में लगाये रखना व दूसरे विषय से हटाकर एक जगह पर रखने का नाम धारणा है। उसके बाद उस विषय में तन्मयता प्राप्त करने का मतलब है ध्यान। जैसे कि तेल की धार में सिलसिला कहीं पर नहीं टूटता उसी तरह अपने धेय विषय में और अपने भीतर कहीं सिलसिला नहीं टूटना चाहिये। रामानुजजी ने भी इस ध्यान को "ध्यानन्तु तैलधारावत् अविच्छिन्नस्मृतिः सन्तानरूपा ध्रुवानुस्मृतिः" कहा है, अर्थात् धेय विषय में चित्त को ऐसा एकाग्र करना चाहिए कि चित्त में और कोई संस्कार न आवे।

ध्यान किसी का अवलम्बन करके किया जाता है, लेकिन आमतौर पर गुरु, इष्ट या भगवान् के विषय में जो ध्यान किया जाता है उसीको ध्यान कहते हैं। हम मामूली तौर पर भगवत्-चिन्तन को ही ध्यान समझते हैं। निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करनेवाले भी असल में सगुण का ही ध्यान करते हैं क्योंकि आकार आदि जैसे स्थूल गुण हैं वैसे ही दया आदि भी सूक्ष्म गुण हैं। बहुत लोग प्राकृतिक दृश्यादि अवलम्बन करके ध्यान करते हैं। पुष्पादि का सौन्दर्य उनको परम सुन्दर के सौन्दर्य की याद दिलाता है। बन्धुओं की प्रीति, माँ का प्रेम, स्त्री का प्यार परम प्रेममय की याद दिलाता है। कोई कोई प्रकृति के भीतर अचिन्त्य शक्ति को लक्ष्य करके परम शक्तिमान् का ध्यान करते हैं। कोई-कोई इस बात की तरफ़ नज़र देते हैं कि वह शक्ति हमारे भीतर रहकर कैसे इस देह-इन्द्रिय आदि को तैयार करके उसके भीतर बैठकर काम करती है। सब पदार्थ और सब तत्त्वों के भीतर से भगवत्-लीला उपलब्धि करना उनका मतलब है। कोई-कोई भगवान् को ज्योतिर्मय जानकर स्थान-विशेष में ब्रह्मज्योति का ध्यान करते हैं। रीढ़ की हड्डी के भीतर सात चक्र हैं। उसके एक-एक चक्र में जो ध्यान का विधान है उसका यह मतलब नहीं है कि सर्वव्यापी परमात्मा उसी जगह पर सीमाबद्ध है, बल्कि उसका मतलब यह है कि उस जगह

पर चित्त स्थिर करके परमात्मा का ध्यान किया जावे। अनाहत, सहस्रार इत्यादि शब्द में जो सप्तमी विभक्ति है वह आधार में सप्तमी नहीं है, बल्कि विवक्षा में सप्तमी है। जिस विषय का ध्यान किया जाता है चित्त उसी के भाव से परिभावित हो जाता है। ध्यान का अर्थ यह है कि चित्त को एकाग्र करके किसी चीज़ के साथ तन्मयता प्राप्त करे। वेदान्त की जो मनन और निदिध्यासन क्रिया है वह भी एक क़िस्म का ध्यान है। कोई-कोई भक्त गुरु या इष्टमूर्ति का अवलम्बन करके तन्मयता प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

हमारा यह शरीर किसी भीतर के सूक्ष्मभाव का स्थूल प्रकाश है। स्थूल का सहारा लेकर हम सूक्ष्म में पहुँचते हैं। मूर्ति सामने रखकर ध्यान करते-करते गुरु या इष्ट का सूक्ष्म भाव हमारे नज़र में आ जाता है। तब ख़याल होता है कि इष्ट जीवन्तरूप में ख़ून और मांस का शरीर धारण करके मूर्ति के भीतर से प्रकट हो गया। इससे भी ऊपर की अवस्था में जाने पर उनके भीतर का सब भाव हमारे चित्त के सामने आ जाता है। उससे हम ऐसी तन्मयता प्राप्त करते हैं कि उनके सब गुण हमारे भीतर से प्रकट हो जाते हैं। साधक एकलव्य ने द्रोणजी की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उनसे तन्मयता प्राप्त करके उनकी सब धनुर्विद्या सीख ली थी। जैसे गर्मी या बिजली जिस चीज़ में जाती है उसी का रूप धारण कर लेती है, वैसे ही इष्ट या गुरुतत्त्व ध्यान के प्रभाव से हमारे भीतर आकर हमारे रूप के भीतर से अपना स्वरूप प्रकट करता है। इससे साधक इष्टमय हो जाता है। कोई-कोई साधक परमात्मा का अंगुष्ठरूप में ध्यान करते हैं। अंगुष्ठ के मानी अँगूठा नहीं है। "अंगे स्थितम् इति अंगुष्ठम्।" हमारे अंग अर्थात् शरीर के भीतर अवस्थित होकर जो हमारे आकार से आकारित होता है उसी को अंगुष्ठ कहते हैं। हमारे हाथ के भीतर उनका हाथ, हमारे पैर के भीतर उनका पैर, और हमारे सिर के भीतर उनका सिर मालूम होने लगता है। उस वक़्त हमारे हर तत्त्व में उनका हर तत्त्व मिल जाता है। अपना शरीर छूने से मालूम होता है कि इष्ट का शरीर स्पर्श किया, और उनसे तन्मयता प्राप्त करके समाधिमग्न हो जाते हैं। जैसे कामला (Jaundice) का रोगी जिगर ख़राब होने के कारण हर चीज़

को पीली देखता है वैसे ही चित्त भगवद्भाव से परिभावित हो जाने से साधक सब पदार्थों में अपने इष्ट का दर्शन करता है। "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्।" तब साधक को इष्ट के अलावा कोई चीज़ नज़र ही नहीं आती। इष्ट के काम के अलावा वह और कोई काम नहीं कर सकता, और न इष्ट के चिन्तन के अलावा कोई दूसरा भाव उसके मन में आता है। इष्ट के गुण से साधक ऐसा भरपूर हो जाता है कि वह इष्ट के बराबर ही हो जाता है। तब अपना सब सीमाबद्ध भाव दूर हो जाता है। इष्ट के मुआफ़िक़ सारी दुनिया के कल्याण करने में साधक भी लग जाता है। अपने भीतर से सर्वव्यापी भगवत्-तत्त्व ऐसा प्रकट होने लगता है कि साधक अपना पृथक् भाव बिलकुल भूल जाता है। इसी का नाम आत्मनिवेदन है। ऐसी अवस्था में ही साधक के मुँह से 'सोहं' 'अनलहक़' 'I and my Father are one' इत्यादि शब्द निकलते हैं।

ध्यान के तीन हिस्से हैं यानी धाम-तत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और इष्ट-तत्त्व या भगवत्-तत्त्व।

धामतत्त्वः—सब साधकों के मत के अनुसार भगवत्-धाम अप्राकृत, ज्योतिर्मय, चिन्मय व आनन्द-रस से भरपूर है। वहाँ किसी क़िस्म के तकलीफ़, अभाव, कामना, वासना, आसक्ति, हिंसा-द्वेष आदि की छाया तक नज़र नहीं आती। वहाँ जो कुछ है वह सब ज्ञान, आनन्द और प्रेम की घनीभूत मूर्ति है। अद्वैतवादियों के मत के अनुसार वहाँ पर किसी क़िस्म का वैशिष्ट्य भाव नहीं है। सिर्फ़ आनन्द ही आनन्द वहाँ पर है। द्वैतवादियों के मत के अनुसार वहाँ दुनिया की कोई चीज नहीं है। वहाँ की सब चीज़ अप्राकृत है। वहाँ श्रीभगवान् अपने परिकरों के साथ लीला में मग्न हैं। वहाँ का सब कुछ चिन्मय व आनन्दरस से भावित है। वही भगवत्-धाम वैष्णवों का गोलोक, शैव व शाक्त का कैलाश, योगी लोगों का सहस्रा रव मुसलमान और ईसाइयों का स्वर्गराज्य है। हर शख़्स उस स्थान को अपने ख़याल के मुताबिक़ आराम के सामान से भरपूर समझता है। साधक भगवत्-धाम का ध्यान करते-करते अपने चित्त को भगवत्-धाम

में परिणत करता है, क्योंकि ज़मीन तैयार किये बिना वहाँ पर परमात्मा का आगमन नहीं हो सकता। पुराण के अनुसार परमात्मा के आगमन से पहले उनके साथी लोग दुनिया में अवतीर्ण होकर परमात्मा के जन्म-स्थान को उनके आने के वास्ते तैयार कर देते हैं।

स्वरूपतत्त्वः—सभी साधकों का मत है कि जीव के रहने की जगह परमात्मा का आनन्द-धाम है। जीव परमात्मा का अंश अथवा प्रतिबिम्ब है। जीव भी असल में परमात्मा के समान नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप है। अपना स्वरूप भूलना ही सारे दुःख और तकलीफ़ों का कारण है। स्वर्गधाम में जीव परमात्मा के साथ शान्त, दास्य आदि भावों में से किसी भाव का सम्बन्ध रखकर उनकी सेवा कर रहा था। किसी किसी सम्प्रदाय में गुरु अपने चेले को अपना स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप व तदनुकूल नाम और सेवाधिकार बताते हैं। चेला अपने भीतर चित्त से परमात्मा की सेवा करता है और उनकी लीला का दर्शन करता है, और बाहर के शरीर से भी उन्हीं की सेवा-बुद्धि से संसार का कर्तव्य करता ह। आख़िर में संसार आनन्दधाम में, जीव भगवत्-विभूतिमें परिणत हो जाने से संसार की सेवा से ही भगवत्-सेवा साधित हो जाती है।

अपने स्वरूप को भूलकर देह में आसक्ति हो जाना बन्धन का कारण है। यह बात सब मानते हैं। इसलिए चित्त को शुद्ध और शान्त करके अपने शुद्ध-बुद्ध-आनन्दस्वरूप में मग्न रहना बहुत ज़रूरी चीज़ है।

(१ नं० परिशिष्ट देखना चाहिए)

जप

भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—"तस्य वाचकः प्रणवः" ओंकार परमात्मा का वाचक है ; "तज्जपस्तदर्थभावनम्" मन्त्र-जप का अर्थ, मन्त्र की अर्थ-भावना है। किस मन्त्र का क्या अर्थ है इसका वर्णन मन्त्र-तत्त्व में किया है। अपने मन्त्र का अर्थ ज्ञानी साधक से मालूम करना चाहिए। सब मन्त्रों का एक ही मतलब है इसलिए मन्त्र का अर्थ आसानी से मालूम हो जायेगा, भावना के बारे में लिखा

है "भावितं वनं चन्दनेन यथा" जैसे चन्दन के वन में जो लकड़ी रहती है उसमें चन्दन की गन्ध प्रवेश करके उसको चन्दनमय कर लेती है वैसे ही साधक मन्त्र का तत्त्व चिन्तन करते-करते तन्मय अर्थात् मन्त्रमय हो जाता है। इस तन्मयता के प्राप्त करने का नाम ही मन्त्र-भावना है। जैसे आमला के चूर्ण को किसी अर्क में भिगोकर रखने से अर्क उस चूर्ण के हर परमाणु के भीतर प्रवेश करके चूर्ण को अर्कमय कर देता है, जैसे छाना के लड्डू को रस में डुबाकर रखने से रस उसके हरएक परमाणु में प्रवेश करके उस लड्डू को रसगुल्ला बना देता है वैसे ही साधक मन्त्र का अर्थ ध्यान करते-करते मन्त्रमय अर्थात् मन्त्र का जीवन्त विग्रह बन जाता है। मन्त्र की संख्या की तरफ़ ध्यान देकर या चित्त को दूसरी तरफ़ रखकर मन्त्र को उच्चारण करने का नाम जप नहीं है। मन्त्र-जप के साथ प्राणायाम, षट्चक्र-भेद, पंचकोश-विवेक आदि साधन-प्रणाली का विशेष सम्बन्ध है। प्रायः सब तान्त्रिक मन्त्रों के भीतर ओंकाररूप व्याहृति 'क्रीं' 'क्लीं' आदि बीज और 'कालिकायै' 'कृष्णाय' 'रामाय' आदि देवता का वर्णन नज़र आता है। व्याहृति शब्द का अर्थ है आकर्षण। परमात्मा साधक को अपने पास आकर्षण करता है। व्याहृति के भीतर यह तत्त्व मौजूद है। 'क्रीं' 'क्लीं' आदि बीज के भीतर साधक का असल स्वरूप क्या है, उनको क्या करना चाहिए, क्या होना चाहिए इत्यादि तत्त्व निहित हैं। 'कृष्णाय' आदि देवतातत्त्व के भीतर यह तत्त्व निहित है कि साधक कैसे साधन करके अपने सब तत्त्वों को इष्टमय बना सकता है। मूलाधार से नाभिचक्र अर्थात् मणिपूरतक अकार का, वहाँ से हृदय में अनाहतचक्र तक उकार का, वहाँ से भौं के बीच में आज्ञाचक्र तक मकार का स्थान है। उसके ऊपर सहस्रार में अर्द्धमात्रा का स्थान है। यह अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा मिलकर ॐ बनता है। ओंकार उच्चारण करके चित्त को मूलाधार से सहस्रार तक ले जाना मन्त्र की व्याहृति है। उसके बाद 'क्रीं' 'क्लीं' आदि बीज उच्चारण करके सहस्रार में स्थित होकर अपने भीतर कौन शक्ति निहित है, परमात्मा ने किसलिये मुझे सृष्ट किया है यह तत्त्व उपलब्धि करना चाहिए। उसके बाद 'कृष्णाय'

'रामाय' आदि देवता का नाम उच्चारण करके चित्त को सहस्रार से मूलाधार तक उतारने के वक्त अपने भीतर के सब तत्त्वों को भगवत्-ज्योति से भरपूर, भगवत्-भाव से तन्मय चिन्तन करना चाहिए। ख़याल करना चाहिए कि बीज में जो शक्ति परमात्मा ने रख दी थी वह अब पूर्ण वृक्षरूप में परिणत हो गई। वैदिक युग का प्रधान मन्त्र था गायत्री। भुर्भुवः स्वः आदि थी उसकी व्याहृति, जिसको उच्चारण करके साधक अपने को सहस्रार में परमात्मा के पास ले जाता था। तत्सवितुर्वरेण्यं आदि उच्चारण करके ब्रह्मज्योति का ध्यान करते-करते साधक ब्रह्म में तन्मय हो जाता था। उसके बाद 'धियो यो नः' आदि उच्चारण करके सहस्रार से मूलाधार की तरफ़ उतरने के वक्त अपने भीतर के सब तत्त्वों (चित्त, मन, इन्द्रिय आदि) को ब्रह्मज्योति से पूर्ण करके ब्रह्मभाव में परिभावित होकर ब्रह्म का काम पूरा करने की योग्यता प्राप्त करते थे। सब जपों का पहला काम है परमात्मा के पास जाना (जैसे वैष्णवों का अभिसारतत्त्व), दूसरा काम है परमात्मा में तन्मय हो जाना (जैसे वैष्णवों का मिलन-तत्त्व), तीसरा काम है देह के सब तत्त्वों को भगवत्-शक्ति से, भगवत्-भाव से परिभावित करके भगवत्मय हो जाना। जप से अपने भीतर के सब तत्त्व व बाहर की सारी दुनिया भगवत्-धाम में परिणत हो जाते हैं। बाइबिल (Bible) की प्रार्थना (तुम्हारा स्वर्गराज्य दुनिया में आ जावे, दुनिया स्वर्ग में परिणत हो जावे, तुम्हारी इच्छा सफलता लाभ करे) जप से आसानी से साधित हो जाती है। इसी प्रकार से 'हरे कृष्ण' आदि जप के साथ चित्त को उठाने और उतारने से साधक कृष्णमय हो जाता है।

यज्ञ

कर्म से दुनिया की सृष्टि, स्थिति, लय साधित है; कर्म ही यज्ञ है। सारी दुनिया एक विराट् यज्ञशाला है। जिस यज्ञ का होता, हवि, हवन; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सारे त्रिपुटी एकमात्र ब्रह्म ही है, वह एक जगत्-व्यापी महायज्ञ चल रहा है। हम ज्ञान से या अज्ञान से उस महायज्ञ में अपना-अपना हिस्सा पूरा करके चल रहे हैं। हमारा सारा काम उस महायज्ञ के ताल के मुताबिक़ चलाने

से अर्थात् हमारे सब काम को भगवत्-इच्छा के पूरा करने में लगाने से हमारा सब काम भी यज्ञ हो जायेगा। इसलिए कहा जाता है कि भगवत-तृप्ति के, भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल सारे काम ही यज्ञ हैं। भेद पैदा करनेवाले अहंतत्त्व ने हमारे व्यष्टि देहादि को समष्टि दुनिया से पृथक् ख़याल कराके इतना अनर्थ पैदा किया है कि जिससे दुनिया में अपना और पराया, सुख-दुख आदि द्वन्द्व भाव नज़र आते हैं। अहंकार को नाश करके व्यष्टितत्त्व को समष्टि के साथ अभेद जानकर व्यष्टि को समष्टि का अंश समझकर समष्टि के ताल के साथ व्यष्टि जो चल रहा है इसको अनुभव करना ही सारे यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है।

प्राचीन वैदिक युग में कर्ममात्र को ही यज्ञ कहा जाता था। अपने समाज के सब आदमी मिलकर जो आनन्द-उत्सव करते थे उसी का नाम यज्ञ था। उसके बाद भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल कर्म का नाम था यज्ञ। गीता में द्रव्ययज्ञ, जपयज्ञ, तपयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का नाम देखा जाता है। इन सबमें ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ बताया गया है। भगवान् सर्वव्यापी हैं। सर्वत्र उनके दर्शन, ध्यान और सेवा ही को ज्ञानयज्ञ कहा गया है। अनासक्त फलाकांक्षावर्जित होकर जीव के कल्याण व शान्ति के लिए भगवत्-तृप्ति और भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल जो कुछ अनुष्ठान है उसी का नाम यज्ञ है। हवा शुद्ध करने के लिए, जीव के कल्याण के लिए और देवताओं की तृप्ति के लिए अग्नि में घृत आदि आहुति देने का नाम भी यज्ञ था। जीवहित के लिए जितना निष्काम कर्म है उसके भीतर परहितार्थ अपना जीवनदान करना अर्थात् अपने को यज्ञ के पशुरूप में अर्पण करना सबसे श्रेष्ठ काम माना गया है। प्राचीन यज्ञ में इड़ाभक्षण एक प्रधान काम था। वह इड़ा था यज्ञभाग, यज्ञ में दिया हुआ द्रव्य। सब मिलकर इड़ा को भक्षण करते थे। बाइबिल (Bible) में भगवान् ईसा को यज्ञ का पशु कहा गया है, क्योंकि उन्होंने जीव के कल्याण के वास्ते अपना जीवनदान किया था। यज्ञ में अर्पित पशु का ख़ून और मांस भक्षण करने का तरीक़ा बहुत धर्मों में नज़र आता है। इस भक्षण का अर्थ है सब तरह से उनके मुआफ़िक़ होने की कोशिश करना और आख़िर में उनके मुआफ़िक़ जीव के कल्याण के लिए अपना जीवनदान करना।

पहले कहा गया है कि ज्ञानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ है। यह ज्ञान विशिष्टाद्वैत तत्त्व और शुद्धाद्वैत तत्त्व है। परमात्मा देही है, जीव-जगत् उनका देह है। यह परमात्मा और उनका देहरूप विशिष्ट भाव अर्थात् स्वगत भाव लेकर जो एक अद्वैत तत्त्व है उसका नाम विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। जीव-जगत् माया-कल्पना है। एक परमात्मा ही नित्य, स्वगत आदि भेद-रहित, अखण्ड तत्त्व है अर्थात् "एकमेवाद्वितीयम्" ही सार तत्त्व है। इस अद्वैत भाव का नाम शुद्धाद्वैत तत्त्व है। व्यष्टि-भाव को समष्टि-भाव में आहुति देकर विशिष्टाद्वैत तत्त्व और समष्टि स्थूल आदि तत्त्वों को आख़िर में एक परमात्मतत्त्व में आहुति देकर शुद्ध अद्वैत तत्त्व है। इन दोनों तत्त्वों को आस्वाद करने का तरीक़ा लेकर ज्ञानयज्ञ तत्त्व है।

हवनः—दुनिया में है एक परमात्मा और जीव-जगत्‌रूप उनका देह है। इसी जीव-जगत् के भीतर से अनन्तरूप पोशाक पहनकर अनन्तरूप से अनन्त भाव में हमारे लीलामय अनन्तदेव लीला कर रहे हैं। अखण्ड तत्त्व को खण्डित करने के लिए उसके सिवा और किसी चीज़ की ज़रूरत होती है। चूँकि परमात्मा को छोड़कर और कोई चीज़ नहीं है, इसीलिए खण्डित भाव को कल्पना कहा जाता है। अहंकार ने ही यह कल्पना करके दुनिया में तुम-हम, सुख-दुख आदि द्वन्द्वभाव को सृष्ट किया है। वैदिक हवनक्रिया इस भेद-भाव को दूर कर देती है। लोटे में जो गंगाजल है उसको गंगाजी में डालकर जैसे एक भेदरहित गंगाजल रह जाता है वैसे ही हमारे कल्पित व्यष्टि भाव को समष्टिभाव में आहुति देने से एक समष्टिभाव ही रह जाता है। इस समष्टिभाव को आस्वादन करना होम का उद्देश्य है। इससे मालूम होता है कि सारी दुनिया में है जीव-जगत्‌रूप एक देह और उसके भीतर एक परमात्मा विराजमान रहकर लीला कर रहे हैं।

हवन की क्रियाः—पहले व्यष्टिभाव को समष्टिभाव में आहुति देना चाहिए। हमारे व्यष्टि अन्नमय कोश को समष्टि अन्नमय कोश में आहुति देने पर रह जाता है एक समष्टि अन्नमय कोश। इस आहुति का मन्त्र है "अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्।" इससे अन्नमय का सब ख़याल दूर हो जाता है। तब व्यष्टि प्राणमय

कोश नज़र आता है। उसमें चित्त स्थिर करने से समझ में आता है कि दुनिया में एक समष्टि महाप्राण है। हमारा व्यष्टि प्राण उनका ही अंश है। तब "प्राणमयाय स्वाहा एषः प्राणः" उच्चारण करके व्यष्टि प्राण को समष्टि प्राण में आहुति दिया जाता है। इससे प्राण-तत्त्व शान्त हो जाने से नज़र आता है व्यष्टि-मन-तत्त्व। उसमें ध्यान करते-करते मालूम होता है कि वह समष्टि मन का ही अंश है और उनके ताल के अनुसार ही चल रहा है। तब "मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः" कहकर व्यष्टि मन को समष्टि मन में आहुति देने से रह जाता है एक समष्टिगत शान्त मन। तब नज़र आता है व्यष्टि विज्ञानतत्त्व। ऊपर बताये हुए तरीक़े के मुवाफ़िक़ "विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्" कहकर व्यष्टि विज्ञान को समष्टि विज्ञान में आहुति देने से रह जाता है एक समष्टि विज्ञान-तत्त्व। तब नज़र आता है व्यष्टि-आनन्दमय-कोश-तत्त्व। उसमें ध्यान लगाने से समझ में आता है कि यह व्यष्टि-आनन्द-तत्त्व समष्टि-आनन्द-तत्त्व का एक अच्छेद्य अंश है। तब "आनन्दमयाय स्वाहा एषः आनन्दः" कहकर व्यष्टि-आनन्द को समष्टि-आनन्द में आहुति देने से रह जाता है एक सर्वव्यापी ब्रह्म-तत्त्व। उस वक़्त अनुभव में आता है कि एक सर्वगत परमात्मा पंचकोशरूप देह के भीतर रहकर लीला कर रहा है। यह देह-देही-भेदरूप स्वगत भेदयुक्त विशिष्टाद्वैत तत्त्व तब समझ में आ जाता है। उसके बाद समष्टिगत अन्नमय को समष्टिगत प्राण में, समष्टिगत प्राण को समष्टिगत मन में, समष्टिगत मन को समष्टिगत विज्ञान में, समष्टिगत विज्ञान को समष्टिगत आनन्द में, समष्टिगत आनन्द को परब्रह्म में क्रमशः आहुति देने से एक शुद्ध "एकमेवाद्वितीयम्" तत्त्व अनुभव में आ जाता है। हवन से मतलब है इन दोनों अद्वैतरूप तत्त्वज्ञानों को हासिल करना।

बलि

'भागधेयः करो बलिः'। बलि का अर्थ है पूजा में अर्पित द्रव्य, जो सबके साथ मिलकर प्रसादरूप में ग्रहण किया जाता है। और प्रजा जो लगान राजा को देती है उसे भी बलि कहते हैं। पहले ज़माने में बलि था

इड़ाभक्षण । जिस बलि से मतलब था अपने जीवन को जीव के हितार्थ दान करना। बड़ा अफ़सोस है कि वह बलि अब परिणत हुआ है गरीब जीव की हत्या करने में। कोई-कोई कहते हैं कि बलि से पूजा में अर्पित पशु का कल्याण साधित हो जाता है। यह बात अगर ठीक हो तो अपने को और नातेदार को बलिदान देना ही अच्छा काम होगा।

विसर्जन

परमात्मा के विषय में शास्त्र व गुरु से साधारण ज्ञान लाभ करके गुरु के उपदेश के मुआफ़िक़ इष्ट-विग्रह में उस भगवत्-तत्त्व को आरोप करके उसमें प्राणप्रतिष्ठा व बोधन आदि क्रिया के द्वारा अनुभव किया है कि वह इष्टविग्रह कागज़ की तसवीर या पत्थर की मूर्ति नहीं है। उसमें जान है, वह हमारा सब देख रही है, हमारी बात सुन रही है। उसके बाद न्यास, उपचारसमर्पण, ध्यान व आत्मनिवेदन से मालूम हो गया कि हमारा जो कुछ है वह इष्टतत्त्व है। गुरु के आशीर्वाद और परमात्मा की कृपा से इष्ट-विग्रह के भीतर से तब इष्टतत्त्व ने प्रकट होकर हमको मुग्ध कर दिया। मालूम होने लगा कि इष्ट-तत्त्व का स्फुरण होना क्या चीज़ है। इसका नतीजा यह हुआ कि मेरा पृथक् अस्तित्व भी लोप हो गया। मेरा चित्त इष्टतत्त्व में तन्मयता प्राप्त करके इष्टमय हो गया। मेरे इष्टतत्त्व को छोड़कर दुनिया में और कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। उसके बाद जब शरीर की तरफ़ नज़र पड़ी तो देखने में आया कि हमारे इस शरीर के हर तत्त्व में हमारा इष्ट-विग्रह पूर्णरूप से विराजित और लीलारत है। तब इष्टतत्त्व हमसे बाहर नहीं रहा, वह हमारे भीतर ही है। बाहर की मूर्ति से हमारे चिन्मय रूप में वह हमारे भीतर आ गया। इस बाहर से भीतर ले आने का नाम है विसर्जन-क्रिया। यह विसर्जन दिया जाता है अपने भीतर की ज्ञानगंगा में। इसका नतीजा होता है इष्टतत्त्व से तन्मयताप्राप्ति। तब सब घट-घट में नज़र आती है इष्टमूर्ति। प्रथम अधिकारी की इष्टमूर्ति को गंगा में विसर्जन देना प्रतीकमात्र था। ज्ञान उदय होने से इस प्रतीक की ज़रूरत नहीं रहती।

नावर्थी हि भवेत्तावद्यावत्पारं न गच्छति ।
उत्तीर्णे तु सरित्पारे नावा वा किं प्रयोजनम् ॥
उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तत्त्वतः ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं विसर्जयेत् ॥

जिनके लिए जप-तप आदि साधन किया गया वह हृदय के द्वार में हाजिर हैं। अब और जप-तप की क्या जरूरत है।

प्राचीन पूजाप्रणाली में अपने भीतर और दुनिया के भीतर सर्वत्र परमात्मा का दर्शन, ध्यान और सेवादि द्वारा जीवन सफल करने का तरीका था। इस पुस्तक में लिखित पूजाप्रणाली के भीतर भी हमको वही एक मतलब नजर आया। प्राचीन साधन-प्रणाली में विज्ञान और दर्शनशास्त्र की रीति समझने से उनमें श्रद्धाभक्ति आना स्वाभाविक है। उस प्रणाली को वर्तमान देश, काल, पात्र के अनुसार ग्रहणयोग्य करके सर्वसाधारण के पास पेश करना ही इस किताब के छपाने का उद्देश्य है।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः
हरिः ओं तत्सत् ।
